उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

MAJY- 503

प्रथम सेमेस्टर

पंचांग एवं मुहूर्त्त

मानविकी विद्याशाखा

ज्योतिष विभाग

|| मङ्गलाचरण ||

सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरी नारायणि नमोऽस्तुते।।
गुरुभ्यश्च ग्रहेभ्यश्च मया बद्धोऽयमञ्जलिः।
प्रसन्नमनसातेन सत्यं कुर्वन्तु भारतीम्।।
स जयति सिन्दूरवदने देवे यत्पादपङ्कजस्मरणम्।
वसरणीरिव तमसां सद्यश्छिन्नत्ति विघ्नजालानि।।
विनायकं ग्रामाद्यादौ देशे कार्यदेवता गुरुम्।
संवत्सरफलं वक्ष्ये लोकानां हितायाम्यहम् ।।

संवत्सर फल-

चैत्रशुक्ल प्रतिपदा तिथि से विरोधकृत नामक संवत्सर का संकल्पादि में प्रथम वर्ष पर्यन्त करना चाहिए। भलेही गुरु मान से परिधावी नामक संवत्सर का प्रवेश मध्य में ही होगा।

सब वर्ष के राजा शनि, मन्त्री मंगल, पालक सूर्य, मेघेश शुक्र, तोयेश शनि, श्रस्येश गुरु, लोकेश सोम, संवर्तकेऊग।

-: सन् २०१९-२० ई का मुहूर्त्तादि :-

मुण्डनः- नव. २०१९-२८/जन. २०२०-२७,३१/फर.-५,७,२८/ मार्च-२,५,६, ११,१२/अप्रैल - २७,२९,३०/ मई -२५,२७/जून-१,३,१०,२४/

उपनयनः-जन.- २७,२९,३०/फर.-४,५,२६,२८/ मार्च-४,५,६/ अप्रैल-२७,२८/ मई-३/

विवाहः- नव. २०१९- २७,२९,३१,२७,२८,२९/ दिस- १,२,६,८,११,१२/

जन. २०२०- १७,१९,२०,२२,२४,२६,२९,३०,३१/ फरवरी-२,५,९,१०,१६,१९, २०,२१,२६,२७,२८/मार्च-१,२,८,११,१२/ अप्रैल-१५,१६,१७,२०, २३,२६,२७/ मई-३,४,६,७,८,१०,१७,२८,२९/ जून- ७,८,१०,११,१७/

गृहारम्भः- नव. -६,७,९,१५,१६/दिस. -७,११,१२/मार्च २०२० -२,५,६,११,१२/ मई-४,७,८,९/ जून -८,१०/

गृहप्रवेशः- नव. ६,७,९,११/दिस. -२,६,७/ मार्च २०२० - २,५,६/ अप्रैल-२९,३०/ मई-४/

||द्वादश ज्योतिर्लिङ्गानि ||

सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम् ।
उज्जयिन्यां महाकालम् ओंकारममलेश्वरम् ॥ १ ॥
परल्यां वैद्यनाथं च डाकिन्यां भीमशंकरम् ।
सेतुबंधे तु रामेशं नागेशं दारुकावने ॥ २ ॥
वाराणस्यां तु विश्वेशं त्र्यंबकं गौतमीतटे ।
हिमालये तु केदारम् घुश्मेशं च शिवालये ॥ ३ ॥
एतानि ज्योतिर्लिङ्गानि सायं प्रातः पठेन्नरः ।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति ॥ ४ ॥

धन्य ई मिथिला धाम, जतय ऐल राम भगवान ।
धन्य अयाची - मंडन - विद्यापति - वाचस्पति मान ॥
धन्य विदेश्वर - कपिलेश्वर, चन्देश्वर अभिराम ।
धन्य महेठा विषहरि, भवभवानीपुर गाम ॥
धन्य मिथि आ मिथिला, अे धन्य विदेहक राजधाम ।
धन्य धराऽसीतारम 'रमण' करै छथि नमन प्रणाम ॥ धन्य-धन्य...

तीनपानी बाईपास रोड, ट्रॉन्सपोर्ट नगर के पीछे
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल - 263139
फोन नं0. - 05946- 261122, 261123
टॉल फ्री न0 18001804025
Fax No.- 05946-264232, E-mail- info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

अध्ययन बोर्ड – फरवरी 2020

अध्यक्ष

कुलपति, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

प्रोफेसर एच.पी. शुक्ल (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उ0मु0वि0वि0, हल्द्वानी

डॉ. नन्दन कुमार तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

प्रोफेसर देवीप्रसाद त्रिपाठी
कुलपति, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रोफेसर विनय कुमार पाण्डेय
अध्यक्ष, ज्योतिष विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

प्रोफेसर रामराज उपाध्याय
अध्यक्ष, पौरोहित्य विभाग, LBS, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम सम्पादन एवं संयोजन

डॉ. नन्दन कुमार तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
डॉ. शिवाकान्त मिश्र असिस्टेन्ट प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग श्रीजगद्गुरू रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर	**1**	**1, 2, 3, 4, 5**
डॉ. नन्दन कुमार तिवारी असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।	**2**	**1,2,3,4,5**

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष - 2020

प्रकाशक - उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

मुद्रक: -

ISBN No. -

नोट : सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

MAJY-503 (प्रथम सेमेस्टर)
पंचांग एवं मुहूर्त्त-01

अनुक्रम

प्रथम खण्ड – पंचांग परिचय	**पृष्ठ-2**
इकाई 1: पंचांग का स्वरूप एवं संक्षिप्त इतिहास	3-17
इकाई 2: पंचांग निर्माण की परम्परा	18-30
इकाई 3: पंचांग के अंग एवं सिद्धान्त	31-52
इकाई 4: दृक्सिद्ध पंचांग का महत्व	53-69
इकाई 5 : पंचांग की उपयोगिता	70-80
द्वितीय खण्ड - पंचांग साधन एवं प्रकार	**पृष्ठ-81**
इकाई 1: तिथि साधन	82-95
इकाई 2: वार साधन	96-109
इकाई 3: नक्षत्र साधन	110-122
इकाई 4: योग साधन	123-133
इकाई 5: करण साधन	134-147

एम.ए.(ज्योतिष)

(MAJY-20)

प्रथम सेमेस्टर

तृतीय पत्र

पंचांग एवं मुहूर्त्त-01

MAJY-503

खण्ड - 1
पंचांग परिचय

इकाई - 1 पंचांग का स्वरूप एवं संक्षिप्त इतिहास

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 पंचांग परिचय

1.3.1 पंचांग का स्वरूप

1.3.2 पंचांग सम्बन्धित काल

1.4 पंचांग का संक्षिप्त इतिहास

1.5 सारांश

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एम.ए. ज्योतिष पाठ्यक्रम के प्रथम सेमेस्टर की तृतीय पत्र एमएजेवाई -503 की पहली इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – पंचांग का स्वरूप एवं संक्षिप्त इतिहास। इससे पूर्व में आपने सिद्धान्त ज्योतिष एवं काल के बारे में जान लिया है। अब आप इस इकाई में पंचांग के स्वरूप एवं उसका संक्षिप्त इतिहास का अध्ययन करने जा रहे हैं।

पंचांग ज्योतिषशास्त्र का सारतत्व है, जिसमें ज्योतिष के समस्त अवयव निहित है। कदाचित् इसीलिए यह भी कहा जाता है कि जिस व्यक्ति को पंचांग का ज्ञान हो जाता है, वह ज्योतिषी बन जाता है। पंचांग के प्रधानतया पाँच अंग है – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण।

आइए इस इकाई में पंचांग के स्वरूप एवं उसके इतिहास को समझने का प्रयास करते है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- जान लेंगे कि पंचांग किसे कहते है।
- समझ लेंगे कि भारतवर्ष में पंचांगनिर्माण की परम्परा कब से विकसित है।
- पंचांग के स्वरूपों के बारे में जान जायेंगे।
- पंचांग के इतिहास का बोध कर लेंगे।
- आपको पंचांग के विभिन्न अवयवों का ज्ञान हो जायेगा।

1.3 पंचाग परिचय

भारतीय ज्योतिषशास्त्र का मूलाधार आकाशीय ग्रहनक्षत्रों का गणित तथा वेध है। गणित के आधार पर सूर्य चन्द्रादि की स्थितियों का सही निर्णय कर गोलीयवेध से दृग्गणितैक्यजन्य समन्वय के द्वारा ग्रहों की वास्तविक दृष्टयुपलब्ध स्थिति ही, उनकी व्यवहारिक उपयोगिता का मूल आधार है। पर्व, धर्मकार्य, यात्रा, विवाह, उत्सव जातक तथा भविष्यफल की जानकारी हेतु ग्रहगणित की शुद्धता की परख पंचांगनिर्माण के द्वारा ही सिद्ध होता है।

पंचानां अंगानां समाहार: इति पंचांगम्। पंचांग में पाँच अंग प्रधान होते है – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण। इन पाँच अंगों के समाहार को पंचांग कहते है। यथा –

तिथिवारं च नक्षत्रं योग: करणमेव च।
इति पंचांगमाख्यातं व्रतपर्वनिदर्शकम्।।

ये सभी व्यक्तकाल के प्रधान तत्व है। इनके ही आधार पर प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक एवं शास्त्रीयकार्य सम्पन्न होते हैं। 'पंचांग' ज्योतिषशास्त्र का मेरूदण्ड माना जाता है। शककाल, वर्षारम्भ, संवत्सर, पूर्णिमान्त- अमान्त मान इत्यादि कुछ बातें पंचांग की ही अंगभूत है। विदित है कि ज्योतिषगणित में ग्रहस्थिति लाने के लिए कोई न कोई आरम्भकाल मानना आवश्यक होता है।

1.3.1 पंचांग का स्वरूप

भारतवर्ष में पंचांग निर्माण की प्रथा वैदिककाल से चली आ रही है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पंचांग का प्रादुर्भव हमारे देश में तभी से प्रचलित हुआ होगा जब हमें ज्योतिषशास्त्र का किंचित ज्ञान होने लगा था, पर यह निश्चित है कि वह पुराना पंचांग आज के समान नहीं था। पंच अंग के स्थान पर कदाचित् उस समय चतुरंग, त्र्यंग, द्वयंग अथवा एकांग भी प्रचलित थे और लिपि का ज्ञान होने के पहले तो कदाचित् श्रवण कर मुखार्थ ही उनका ज्ञान कर लेते रहे होंगे। परन्तु इतना अवश्य है कि ज्योतिषस्थिति दर्शक कोई पदार्थ अति प्राचीनकाल से ही प्रचलित रहा है।

वेदों में भी लिखा है कि अमुक दिन, नक्षत्र और ऋतु में अमुकामुक कर्म करने चाहिए, अत: स्पष्ट है कि ज्योतिर्दर्पण अत्यन्त प्राचीन है। उसका प्रथम अंग सावन दिन है। सम्प्रति सावन दिन के स्थान पर वार का प्रयोग किया जाता है। सावन दिन के बाद नक्षत्रों का ज्ञान हुआ और नक्षत्र दूसरा अंग बना। उसके बाद तिथि का ज्ञान हुआ। वेदांगज्योतिषकाल अर्थात् शकपूर्व १४००वें वर्ष में तिथि और नक्षत्र अथवा सावन दिन और नक्षत्र दो ही अंग थे। तिथि का मान लगभग ६० घटी होता है अर्थात् उसे अहोरात्र दर्शक जानना चाहिए। तदनुसार केवल दिन अथवा केवल रात्रि के दर्शक तिथ्यर्ध अर्थात् करण नामक अंग का प्रचार तिथि के थोड़े ही दिनों बाद हुआ होगा और उसके बाद वार प्रचलित हुए होंगे। अथर्वज्योतिष में करण और वार दोनों का उल्लेख मिलता हैं।

आकाश में सूर्य और चन्द्रमा के एकत्र होने पर अर्थात् उनका योग समान होने पर अमावस्या समाप्त होती है। इसके बाद गति अधिक होने के कारण चन्द्रमा सूर्य से आगे जाने लगता है। दोनों में १२ अंश का अन्तर पड़ने में जितना समय लगता है उसे 'तिथि' कहते है। इस प्रकार दोनों के पुन: एकत्र होने तक अर्थात् एक चान्द्रमास में ३६० ÷ १२ = ३० तिथियाँ होती हैं। सूर्य और चन्द्रमा में ६अंश पड़ने में जो समय लगता है उसे करण कहते हैं। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के काल को वार कहते हैं। नक्षत्रमण्डल के आठ- आठ सौ कलाओं के २७ समान भाग माने गये हैं प्रत्येक भाग को और उसे भोगने में चन्द्रमा को जितना समय लगता है, उसे 'नक्षत्र' कहते हैं। सूर्य-चन्द्र के भोगों के योग द्वारा योग लाया जाता है। सूर्य और चन्द्रमा की गति का योग ८०० कला में जितना समय लगता है उसे 'योग' कहते हैं।

अथर्वज्योतिष में करण और वार दोनों विद्यमान है, हमारे देश में शकारम्भ के पूर्व नक्षत्रप्रधान गणना रहने पर भी मेषादि संज्ञाओ का प्रचार वैदिक काल में हुआ होगा। यह भी देखा जाता है, कि अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्यस्मृति में राशियों का ज्ञान होने के शताब्दी पूर्व वारों का का ज्ञान हुआ होगा। एक अन्य ग्रन्थ में भी इसका प्रमाण मिलता है। ऋकगृह्य परिशिष्ट में तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र एवं तिथियों की नन्दादि संज्ञाओं दिन क्षय और वार का वर्णन है परन्तु मेषादि राशियों का स्पष्ट वर्णन नहीं है। अत: ये तीनों ग्रन्थ मेषादि राशियों के प्रचार होने के पूर्व के हो सकते है। परन्तु इन तीनों का निर्माण एक ही समय नहीं होगें यह निश्चित है। इससे ज्ञात होता है कि वारों का ज्ञान मेषादि संज्ञाओं से कई शताब्दी पूर्व हुआ है। वारों और मेषादि संज्ञाओं की उत्पत्ति सर्वप्रथम आधुनिक समालोचकों के अनुसार चाहे जहाँ हुई हो पर उनका सर्वत्र प्रचार होने से उनका मूल एक होना चाहिए। क्योंकि उनमें गणितादि का कोई प्रपंच नहीं है। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में दोनों एक साथ प्रचलित हुए होंगे। आधुनिक संकल्पना के अनुसार वारों का प्रचार मेषादि राशियों से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्थात् शक पूर्व १०००० के आस पास हुआ होगा। वे शक पूर्व ३००० अर्वाचीन तो वे कथमपि नहीं ही है।

करण नामक काल विभाग तिथि द्वारा अपने आप ध्यान में आने योग्य है। तिथि के कुछ दिनों बाद और वार के पूर्व उसका प्रचार प्रसार हुआ होगा। वेदांगकालीन जिन ग्रन्थों का विवेचन भारतीय ज्योतिष में किया गया है, उनमें से अथर्वज्योतिष याज्ञवल्क्यस्मृति और ऋग्गृह्य परिशिष्ट, इन तीनों ग्रन्थों में वार शब्द आये है। इन तीनों में से याज्ञवल्क्यस्मृति में करण नहीं है। शेष दो में करण का वर्णन मिलता है। इससे शंका होती है कि वार के पहले करण का प्रचार नहीं रहा होगा। यदि यह ठीक है तो दोनों का प्रचार एक ही समय हुआ होगा अथवा करण वारों के कुछ दिनों के बाद शीघ्र ही प्रचलित हुए होंगे। इससे ज्ञात होता है कि ये भी शक पूर्व ३००० से अर्वाचीन नहीं है। शनिवार, रविवार, सोमवार इत्यादि वार क्रम का विवेचन भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। सम्प्रति भूमण्डल में जहाँ-जहाँ वार प्रचलित है, सर्वत्र सात ही है और उनका क्रम भी सर्वत्र एक है। अत: वारों की उत्पत्ति किसी एक ही स्थान में हुई। अहोरात्र शब्द से होरा की उत्पत्ति तथा सूर्यसिद्धान्त में वार क्रम की उत्पत्ति का विधान प्राप्त है। अत: विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही सूर्यादि क्रम से वारोत्पत्ति का प्रथम मूल है। वहीं से सह दुनियाँ भर में फैला। यद्यपि हमारे देश में अब तक अनेकों ताम्रपट्ट और शिलालेख मिल है उनमें वारों का उल्लेख का प्राचीनतम उदाहरण शक ४०६ का विद्यमान है। मध्यप्रान्त के 'एरन' नामक स्थान के एक खम्भे पर बुद्धगुप्त राजा का गुप्त वर्ष १६५ अर्थात् शक ४०६ आषाढ़ शुक्ल द्वादशी गुरूवार का एक शिलालेख है। इस समय इससे

प्राचीन ज्योतिष का ऐसा पौरूष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसके लेख से यह विदित होता हो कि वह शक ४०६ से प्राचीन है।

श्रीमानदीक्षित के वारोत्पत्ति क्रम का वैदेशिक बोध का खण्डन श्रीमान वेदविद्यालंकार पं0 दीनानाथ शास्त्री चुलैट तथा वि0वि0 मधुसूदन के प्रमाण से हो जाता है। वेदों में सभीग्रह तथा नक्षत्र एवं केतुओं के साथ राशि विज्ञान प्रमाणिकता के साथ प्राप्त होने से वारक्रम के भारतीय मूल होने में सन्देह की कोई गुंजाईश नहीं है।

भारतीय पंचांग का निर्माण तीन पक्षों पर आधारित हैं – सौरपक्ष, आर्यपक्ष एवं ब्राह्मपक्ष। सूर्यसिद्धान्त से सम्बन्धित सौरपंचांग का निर्माण होता था। आर्यभट्टीयम् पर आधारित आर्यपक्षीय पंचांग तथा ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त पर आधारित ब्राह्मपक्षीय पंचांग आदि का निर्माण होता था। कालान्तर (१४०० शक) में मकरन्दीय पंचांग का निर्माण मकरन्दसारिणी के आधार पर हुआ, किन्तु सारिणी सूर्यसिद्धान्त को आधार मानकर निर्मित की गई थी, अत: यह भी सौर पंचांगीय परम्परा के अन्तर्गत ही आता है। भारतवर्ष में प्राचीन पद्धतियों में सूर्यसिद्धान्त, ग्रहलाघव, मकरन्द तथा नवीन पद्धतियों में केतकीग्रहगणित, सर्वानन्दकरण तथा नाटिकल अल्मनाक द्वारा पंचांगों का निर्माण सम्प्रति अधिक रूप से देखा जा रहा है। मुख्यत: भारतवर्ष में दो प्रकार के पंचांग निर्मित होते हैं – 1. सायण 2. निरयण। अयनांश सहित सायन एवं अयनांश रहित निरयण पंचांग होता है।

1.3.2 पंचांग सम्बन्धित काल

हमारे पंचांग के आरम्भ में संवत्सर फल विचार में युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन इत्यादि कलियुग के ६ शककर्ताओं के नाम लिखे रहते हैं। उनमें से युधिष्ठिरादि तीन बीत चुके हैं और तीन आगे होंगे। शक शब्द वस्तुत: एक जाति का बोधक है। भटोत्पल इत्यादिकों ने लिखा है कि विक्रमादित्य द्वारा शकों के पराजित होने के समय से शक नाम से कालगणना आरम्भ हुई, पर यह कथन सयुक्तिक नहीं प्रतीत होता। शक जाति के ही राजाओं ने अपने नाम पर कालगणना का आरम्भ किया होगा। शक शब्द प्रथम एक जाति का द्योतक था, परन्तु आज वह युधिष्ठिर शक, विक्रम शक इत्यादि शब्दों में काल अर्थ का अर्थात् इंगलिश के इरा और अरबी के सन् अर्थ का वाचक हो गया है। प्राचीन ताम्रपत्रादि लेखों में सन् अर्थ में संस्कृत के काल शब्द का प्रयोग मिलता है, जैसे – शकनृपकाल, विक्रमकाल,गुप्तकाल (गुप्त राजाओं के नाम पर आरम्भ किया हुआ काल)। भारतवर्ष में विक्रमकाल, शककाल इत्यादि अनेक काल प्रचलित थे और हैं। आइए यहाँ कुछ प्रमुख व्यावहारिक कालों को जानते है –

कलिकाल – ज्योतिषग्रन्थों और पंचांगों में कालगणना में कलियुग का भी उपयोग करते हैं। इस

काल के चैत्रादि और मेषादि दो वर्ष प्रचलित हैं। पंचांगों में कभी इसका गत वर्ष, कभी वर्तमान वर्ष और कभी–कभी दोनों लिखते हैं। ताम्रपत्रादि लेखों में इसका अधिक प्रयोग नहीं मिलता। व्यवहार में भी इस समय इसका प्रचार कही नहीं है, परन्तु मद्रास प्रान्त में कुछ ऐसे पंचांग मिलते हैं जिनमें केवल कलिवर्ष लिखा रहता है। शक में ३१७९ जोड़ने से गत कलिवर्ष आता है।

विक्रम काल – सम्प्रति यह गुजरात में और बंगाल को छोड़कर सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित है। उन प्रान्तों के लोग अन्यत्र भी जहाँ हैं, इसी का प्रयोग करते हैं। नर्मदा के उत्तर इसके वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता है और मास पूर्णिमान्त हैं, परन्तु गुजरात में वर्ष कार्तिकादि है और मास अमान्त हैं। सन् ४५० ई0 से ८५० पर्यन्त इस काल को मालवकाल कहते थे। विक्रम शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विक्रम संवत् ८१८ के एक लेख में मिलता है, पर उससे भी यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता कि वह विक्रम राजा के ही उद्देश्य से किया गया है। वैसा स्पष्ट उल्लेख विक्रम संवत् १०५० के एक काव्य में सर्वप्रथम मिलता है। सम्प्रति विक्रमकाल को विक्रमसंवत् अथवा केवल संवत् भी कहते हैं। संवत् शब्द वस्तुत: संवत्सर का अपभ्रंश है। शंकसंवत् सिंहसंवत् वलभीसंवत् इत्यादि प्रयोग अनेक स्थानों में मिलते हैं। मद्रास प्रान्त के कुछ पंचांगों में शकवर्ष के साथ –साथ विक्रम का भी वर्तमान वर्ष लिखा रहता है। इधर जिस वर्ष को शक १८१८ कहते हैं, उसे वहाँ शक १८१९ और विक्रम संवत् १९५४ कहते हैं। शक में १३४ -१३५ जोड़ने से कार्तिकादि और १३५ जोड़ने से चैत्रादि विक्रम वर्ष आता है।

ख्रिस्ती सन् (ईसवी सन्) – हमारे देश में इस सन् का प्रचार अंग्रेजों का राज्य होने के बाद हुआ है। इसका वर्ष सायन सौर है। इसका आरम्भ जनवरी की पहली तारीख से होता है। सम्प्रति जनवरी का आरम्भ अमान्त पौष या माघ में होता है। यह पद्धति सन् १७५२ ई0 से चली है। इसके पूर्व जनवरी का आरम्भ ११ दिन पहले होता था। शक में ७८ या ७९ जोड़ने से ख्रिस्ती वर्ष आता है।

शक काल – ज्योतिषशास्त्र के करणग्रन्थों में यही काल लिया गया है। ज्योतिषियों का आश्रय प्राप्त होने के कारण ही यह आज तक टिका है, अन्यथा गुप्तकाल, शिवाजी कि राज्याभिषेक शक इत्यादिकों की भाँति यह भी बहुत पहले ही लुप्त हो गया होता। सम्प्रति टिनेवल्ली और मलावार के कुछ भाग को छोड़कर सम्पूर्ण दक्षिण भारत में व्यवहार में मुख्यत: इसी काल का प्रचार है। भारत के अन्य भागों में भी यह स्थानिक काल के साथ-साथ प्रचलित है। इसका वर्ष चान्द्र और सौर है। चान्द्र वर्ष चैत्रादि और सौर वर्ष मेषादि है। नर्मदा के उत्तर भाग में इसके मास पूर्णिमान्त और दक्षिण में अमान्त है।

हिजरी सन् - इसकी उत्पत्ति अरब में हुई है। हमारे देश में इसका प्रचार मुस्लिम राज्यकाल से हुआ है। हिझर का अर्थ है – भागना। मुसलमानों के पैगम्बर मुहम्मद साहब १५ जुलाई सन् ६२२ ई0 तदनुसार शक ५४४ श्रावण शुक्ल १ गुरूवार की रात्रि (मुसलमानों की शुक्रवार की रात) को मक्का से भागकर मदीना गये थे। उनके भागने का समय ही इस सन् का आरम्भकाल है और इसीलिए इसे हिजरी सन् कहते हैं। इसके मोहर्रम इत्यादि मास चान्द्र हैं। अधिकमास लेने की पद्धति न होने के कारण यह वर्ष केवल चान्द्र अर्थात् ३५४ या ३५५ दिनों का होता है और इस कारण प्रति ३२ या ३३ सौर वर्षों में इस सन् के वर्ष का अंक किसी भी सौरकाल के वर्ष के अंक की अपेक्षा १ बढ़ जाता है। मास का आरम्भ शुक्ल्पक्ष की प्रतिपदा या द्वितीया के चन्द्रदर्शन के बाद होता है। मास के दिनों को प्रथम दिन, द्वितीय दिन न कहकर प्रथमचन्द्र, द्वितीयचन्द्र इत्यादि कहते हैं। मास में इस प्रकार के चन्द्र २९ या ३० होते हैं। वार और तारीख का आरम्भ सूर्यास्त से होता है। इस कारण हमारे गुरूवार की रात्रि मुसलमानी पद्धति के अनुसार शुक्रवार की रात्रि होती है, पर दिन के नाम में अन्तर नहीं पड़ता।

बंगाली सन् – यह सन् बंगाल में प्रचलित है। इसका वर्ष सौर है। इसका आरम्भ मेषसंक्रान्ति से होता है। महीनों के नाम चैत्र, वैशाख इत्यादि चान्द्र ही हैं। जिस महीने का आरम्भ मेषसंक्रान्ति से होता है उसे वैशाख कहते हैं। तमिल प्रान्त में उसी को चैत्र कहते हैं। बंगाली सन् में ५१५ जोड़ने से शकवर्ष और ५९३ -९४ जोड़ने से ईसवी सन् आता है।

फसली सन्- फसल तैयार होने के काल के अनुसार इसे अकबर बादशाह ने चलाया है। पहले हिजरी सन् का ही वर्षांक इसमें लगाया गया, परन्तु हिजरी सन् केवल चान्द्र ३५४ दिन का और फसली सन् सौर होने के कारण बाद में दोनों के वर्षांकों में अन्तर पड़ने लगा। हिजरीसन् ९३६, ईसवीसन् १५५६ में अकबर गद्दी पर बैठा। उत्तर भारत में फसली सन् उसी समय आरम्भ हुआ और दक्षिण में शाहजहाँ ने उसे ईसवी सन् १६३६अर्थात् हिजरी सन् १०४६ में आरम्भ किया। प्रथम उसमें हिजरीसन् का ही वर्षांक अर्थात् १०४६ लगाया गया। उस समय उत्तर के फसली सन् का वर्षांक १०४४ था। इसलिए दक्षिण का अंक उत्तर की अपेक्षा दो अधिक हो गया। हिजरी वर्ष के केवल चान्द्र होने के कारण ऐसा हुआ। उत्तर और दक्षिण का वर्षारम्भ भिन्न होने के कारण दोनों में कुछ और महीनों का भी अन्तर पड़ गया। इस वर्ष का उपयोग केवल सरकारी कामों में होता है। धार्मिक कृत्यों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रतीत होता है कि इसी कारण इसका आरम्भकाल अनियमित हो गया।

इसी तरह इनके अतिरिक्त चेदिकाल अथवा कलचुरिकाल, गुप्तकाल, वलभीकाल,

बिलायती सन्, अमली सन् , सूरसन या शाहूरसन्, हर्षकाल, मगी सन्, कोल्लमकाल अथवा परशुरामकाल, नेवारकाल, चालुक्यकाल, सिंहसंवत्, लक्ष्मणसेनकाल, तथा इलाही सन् भी होते हैं।

चान्द्रसौर मान - हमारे यहाँ कई मान प्रचलित हैं। धर्मशास्त्रोक्त अधिकांश कृत्यों का सम्बन्ध तिथि से अर्थात् चान्द्रमान से है, कुछ कर्म संक्रान्ति से अर्थात् सौरमान से सम्बन्ध रखते हैं और प्रभवादि संवत्सरों की उत्पत्ति बार्हस्पत्य मान से हुई है तथापि कुछ प्रान्तों में सौर मान का और कुछ में चान्द्रमान का विशेष प्रचार है। बंगाल में सौरवर्ष प्रचलित है। मद्रास में छपे ज्वालापति सिद्धान्तीकृत शक १८०९ के पंचांग में लिखा है कि इस देश में लोकव्यवहारार्थ चान्द्रमान ग्राह्य है और शेषाचल के दक्षिण सौरमान ग्राह्य है। सौर का सम्बन्ध सूर्य से तथा चान्द्र का सम्बन्ध चन्द्रमा से होता है। सूर्य के द्वारा एक अंश का भोग एक सौर दिन तथा चन्द्रमा द्वारा तिथि का भोग चान्द्र दिन कहलाता है।

इसी प्रकार कालों के पश्चात् पंचांग से सम्बन्धित प्रमुख विषय वर्षारम्भ, नक्षत्रारम्भ, मासारम्भ आदि को भी आइए क्रमश: जानने का प्रयास करते हैं -

वर्षारम्भ – यजुर्वेदसंहिताकाल में और तदनुसार उसके बाद सभी वैदिक कालों में वसन्त ऋतु तथा मधुमास के आरम्भ में वर्ष का आरम्भ माना जाता था। वैदिक काल के अन्त में मधुमास का नाम चैत्र पड़ा। संवत्सरसत्र के अनुवाक तथा कुछ अन्य वाक्यों से ज्ञात होता है कि चित्रापूर्णमास (चैत्रशुक्ल १५ अथवा कृष्ण १), (फाल्गुनीपूर्णमास फाल्गुन शुक्ल १५ अथवा कृष्ण १), और कदाचित् अमान्त माघ कृष्ण ८ को संवत्सर का मुख कहा है। यह फाल्गुन अमान्त है या पूर्णिमान्त यह ज्ञान का विषय है। संभवत: किसी समय पूर्णिमान्त पौषारम्भ में भी वर्षारम्भ होता था, परन्तु उस समय पौष नहीं था। वेदांगज्योतिष में अमान्त माघ के आरम्भ में वर्षारम्भ माना है। महाभारत में मार्गशीर्ष के वर्षारम्भ होने के उल्लेख हैं तथापि सूत्रादिकों से ज्ञात होता है कि वेदांगकाल में चैत्रादि वर्ष का प्राध्यान्य था। ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थकार अपनी सुविधा के अनुसार सौरवर्षारम्भ से अथवा चान्द्रसौर वर्षारम्भ से गणित करते हैं। गणेश दैवज्ञ ने ग्रहलाघव में चान्द्रसौर वर्षारम्भ से गणित किया है, परन्तु उन्हीं ने तिथिचिन्तामणि में मेषसंक्रान्ति को वर्षारम्भ माना है। सौरवर्ष का आरम्भ अधिकतर मध्यम मेषसंक्रान्ति और कोई – कोई स्पष्ट मेषसंक्रान्ति से करते हैं। चान्द्रसौर वर्ष का आरम्भ चैत्रशुक्ल प्रतिपदा के आरम्भ से ही किया जाता है, यह कोई नियम नहीं है। प्राय: उस दिन सूर्योदय से और कभी-कभी मध्यरात्रि, मध्याह्न अथवा सूर्यास्त से भी वर्षारम्भ मानते हैं।

धर्मशास्त्र में चैत्र के आरम्भ से वर्षारम्भ माना है। व्यावहारिक दृष्ट्या धर्म और व्यवहार का निकट सम्बन्ध होने के कारण दोनों प्रकार के वर्षारम्भ का भी निकट सम्बन्ध है। भारत के अधिक

भाग में वर्षारम्भ चैत्र से होता है। जिन प्रान्तों में शक काल और चान्द्रमान का व्यवहार होता है उनमें चैत्रशुक्ल प्रतिपदा को वर्षारम्भ होता है। नर्मदा के उत्तर बंगाल को छोड़कर शेष प्रान्तों में विक्रमसंवत् चान्द्रमान और पूर्णिमान्त मास का प्रचार है तो भी वर्षारम्भ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से ही होता है। बंगाल में शककाल और सौरमान प्रचलित हैं। वहाँ वर्षारम्भ सौर वैशाख से अर्थात् स्पष्ट मेषसंक्रान्ति से होता है परन्तु चान्द्र चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का महत्व वहाँ भी होगा। तमिल प्रान्त में सौर मान प्रचलित है। वहाँ वर्षारम्भ स्पष्ट मेषसंक्रान्ति से मानते हैं पर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का माहात्म्य वहाँ भी होगा।

वसन्त में मधु मास के आरम्भ अर्थात् चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ होने का वर्णन श्रुति (वेद) , वेदांग, स्मृति, पुराण, ज्योतिषगणितग्रन्थ तथा धर्मशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन निबन्धग्रन्थ सभी में है। गुप्तसंवत् १५६ से २०९ तक के अर्थात् शकवर्ष ३९७ से ४५० तक के गुप्त राजाओं के जो ताम्रपत्रादि लेख मिले हैं,उनमें लिखित ज्योतिष सम्बन्धी सभी बातों की संगति चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ मानने से मिलती हैं। इन गुप्तों की सत्ता एक समय उत्तर भारत के अधिकतर भाग में व्याप्त थी। बेरूनी ने भी चैत्रारम्भ में वर्षारम्भ लिखा है। सारांश यह है कि यह वर्षारम्भ सार्वकालिक, सार्वत्रिक और सर्वमान्य है। इसके रहते हुए भी कहीं-कहीं अन्य वर्षारम्भ थे और हैं। चैत्र कृष्ण प्रतिपदा वसन्त में ही पड़ती है। प्रतीत होता है, इसी कारण पूर्णिमान्त पद्धति के अनुसार वैदिक काल के कुछ भागों में कहीं-कहीं उसे भी वर्षारम्भ मानते थे। बंगाल में सौर वैशाख के आरम्भ में अर्थात् मेषारम्भ में वर्षारम्भ मानते हैं।

नक्षत्रचक्रारम्भ – वेदों में नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है। अनुमान होता है कि कृत्तिका के पूर्व मृगशीर्ष से नक्षत्रगणना करते रहे होंगे, पर इसका प्रत्यक्ष उल्लेख कहीं नहीं मिलता। ज्योतिष सिद्धान्तग्रन्थों में अश्विनी को आदि-नक्षत्र माना है। वैदिक काल या वेदांगकाल में यह पद्धति नहीं थी। वेदांगज्योतिष में धनिष्ठा से गणना की है। महाभारत से ज्ञात होता है कि एक समय श्रवण प्रथम नक्षत्र था, अर्थात् ये दोनों वेदांगकाल में प्रथम नक्षत्र आदि माने जाते थे। उस समय कृत्तिका भी प्रथम नक्षत्र था ही । मृगशीर्ष, कृत्तिका धनिष्ठा तथा श्रवण का सम्बन्ध उत्तरायणारम्भ से है।

नक्षत्रचक्र के आरम्भ में क्रमश: एक-एक नक्षत्र पीछे मानने की परम्परा चली आ रही हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता।

अभ्यास प्रश्न – 1 बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. पंचांग में कितने अंग प्रधान रूप से होते हैं?

   क. 4 ख. 5 ग.7 घ. 9

2. भारतवर्ष में पंचांग बनाने की परम्परा कब से आरम्भ हुई थी?
   क. वैदिककाल से ख. सिद्धान्त काल से ग. मध्यकाल से घ. आधुनिक
3. निम्नलिखित में ज्योतिषशास्त्र का मेरूदण्ड माना जाता है –
   क. वेद ख. पंचांग ग. काल घ. ऋतु
4. धर्मशास्त्र में किस मास से वर्षारम्भ माना गया है?
   क. चैत्र ख. वैशाख ग. मार्गशीर्ष घ. कार्तिक
5. वेदों में नक्षत्रारम्भ किस नक्षत्र से माना गया है?
   क. धनिष्ठा ख. कृत्तिका ग. अश्विनी घ. रोहिणी
6. सूर्य एवं चन्द्रमा के द्वादशात्मक गत्यन्तर को कहते हैं?
   क. तिथि ख.वार ग. नक्षत्र घ. करण

मासारम्भ –

तिथि का आरम्भ और सूर्य संक्रमण (उसका एक राशि से दूसरी में गमन) दिन में किसी भी समय हो सकता है और वस्तुत: चान्द्र और सौर मासों का आरम्भ क्रमश: इन्हीं समयों से होता है, परन्तु सूर्योदय से मासारम्भ मानने से व्यवहार में सुविधा होती है इसलिए जिस दिन सूर्योदय में प्रतिपदा रहती है, उसी दिन चान्द्रमास का आरम्भ मान लेते हैं। प्रतिपदा दो दिन सूर्योदय काल में रहने पर मासारम्भ प्रथम दिन माना जाता है। सौरमासारम्भ के निम्नलिखित कई नियम प्रचलित हैं।

1. (क) बंगाल में सूर्योदय और मध्यरात्रि के बीच में संक्रान्ति होने पर पर्वकाल उसी दिन मानते हैं

और मासारम्भ दूसरे दिन करते हैं। मध्यरात्रि के बाद और सूर्योदय के पूर्व संक्रान्ति हुई तो पर्वकाल दूसरे दिन और मासारम्भ तीसरे दिन मानते हैं।

1. (ख) उड़ीसा प्रान्त में अमली और विलायती सनों के मासों का आरम्भ संक्रान्ति के दिन ही होता है, संक्रान्ति चाहे जिस समय हो। मद्रास में भी दो नियम है।
2. क. तमिल प्रान्त में सूर्यास्त के पूर्व संक्रान्ति होने पर उसी दिन और सूर्यास्त के बाद होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते हैं। 2. (ख) मालवार प्रान्त में अपराह्न का आरम्भ होने के पूर्व संक्रान्ति होने पर उसी दिन और बाद में होने पर दूसरे दिन मासारम्भ मानते हैं। श्रीमान दीक्षित जी ने यह नियम उन प्रान्तों के पंचांगों तथा कुछ अन्य बातों के आधार पर लिखे हैं, पर इनके अपवाद भी हो सकते हैं।

संवत्सर –

'वृहस्पते मध्यम राशि भोगात् संवत्सरा सांहितिका वदन्ति' भास्कराचार्य की इस उक्ति के अनुसार वृहस्पति के मध्यम भोग मान से संवत्सर का ज्ञान होता है। संवत्सर शब्द वस्तुत: वर्ष अर्थ का वाचक है, परन्तु एक पद्धति यह है कि ६० वर्षों के प्रभाव इत्यादि क्रमश: ६० संज्ञायें रख दिये गये हैं, उन संज्ञाओं व नामों को भी संवत्सर कहा जाता है। इन संवत्सरों की उत्पत्ति वृहस्पति की गति से होने के कारण इन्हें बार्हस्पत्य संवत्सर कहते हैं। वृहस्पति को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने में लगभग १२ वर्ष लगते हैं, यह बात ज्ञात हो जाने पर बार्हस्पत्य संवत्सर की उत्पत्ति हुई होगी। जैसे सूर्य को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने में जितना समय लगता है उसे वर्ष और उसके १२ वें भाग को मास कहते हैं, उसी प्रकार पहले गुरु की एक प्रदक्षिणा सम्बन्धी काल को गुरु वर्ष और उसके लगभग १२ वें भाग को गुरुमास कहते रहे होंगे। चान्द्र मासों के चैत्रादि १२ नाम नक्षत्रों के नाम पर पड़े हैं। सूर्यसान्निध्य के कारण गुरु वर्ष में कुछ दिन अस्त रहता है। जिस नक्षत्र में उसका उदय होता है उसी के नाम पर चान्द्र मास की भॉति गुरुमासों के भी नाम रखे गये। ये गुरु के मास वस्तुत: सौर वर्षों के ही नाम हैं। इसीलिए इन्हें चैत्रसंवत्सर, वैशाखसंवत्सर इत्यादि कहने लगे।

द्वादश संवत्सरचक्र –

वर्षसंख्या गणना करने का एक उत्तम साधन है द्वादश संवत्सर चक्र। ये दो प्रकार के हैं। एक तो वह है जिसमें संवत्सर का नाम गुरु के उदयानुसार रखा जाता है। इसे उदय पद्धति कहते हैं। गुरु का एक उदय होने के लगभग ४०० दिनों के पश्चात् दूसरा उदय होता है और एक गुरुभगण में अर्थात् १२ वर्षों में ११ गुरुदय होते हैं और एक संवत्सर का लोप हो जाता है। इस पद्धति में किंचित् असुविधा है। इसीलिए ज्योतिर्विदों ने गुरु की मध्यम गति का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर नक्षत्रमण्डल का १२ वाँ भाग अर्थात् एक राशि चलने में गुरु को जितना समय लगता है उसे गुरु का मास अर्थात् संवत्सर मानने का निश्चय किया। इस प्रकार १२ वर्ष में संवत्सर का लोप नहीं होता। इसे मध्यम राशिपद्धति कहेंगे। गुरु को एक राशि चलने में मध्यम मान से कितना समय लगता है, यह जानना उतना सरल नहीं है जितना गुरु का उदय देखना और समझना। इससे सिद्ध होता है कि उदयपद्धति का आविष्कार पहले हुआ होगा। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह पद्धति शकपूर्व ५०० के पूर्व प्रचलित थी।

जिस प्रकार वेदांगज्योतिष में ५ वर्षो का एक युग माना है, उसी प्रकार ५ गुरुवर्षों का एक युग माना गया है। उसमें लगभग ६० सौरवर्ष होते हैं। उसके संवत्सरों के प्रभव इत्यादि नाम रख दिये गये। इस

प्रकार षष्टिसंवत्सरचक्र उत्पन्न हुआ। स्पष्ट है कि इसकी उत्पत्ति द्वादश संवत्सरचक्र के बाद हुई होगी। वर्षसंख्या गणना का यह उससे भी उत्तम साधन है। प्रथम इसके भी संवत्सरों की गणना गुरु के उदय से की जाती थी, परन्तु बाद में यह पद्धति छोड़ दी गयी और गुरु के मध्यम राशिभोगकाल के अनुसार गणना की जाने लगी। गुरु को मध्यमगति से एक राशि भोगने में सूर्यसिद्धान्तानुसार ३६१ दिन १ घटी ३६ पल और अन्य सिद्धान्तों के अनुसार इससे कुछ पल न्यून या अधिक समय लगता है। एक बार्हस्पत्य संवत्सर का यह मान सौरवर्ष से थोड़ा कम है। इस कारण ८५ सौरवर्षों में ८६ बार्हस्पत्य संवत् होते हैं अर्थात् एक बार्हस्पत्य संवत् का लोप हो जाता है और इसका आरम्भकाल निश्चित नहीं रहता। इस संवत्सर की एक और पद्धति है। उसमें संवत्सर का लोप नहीं किया जाता, उसका मान सौरवर्ष तुल्य ही मान लिया जाता है। इसी कारण उसे सौरसंवत्सर कहते हैं। चान्द्र वर्ष के साथ आरम्भ होने के कारण उसे चान्द्र संवत्सर भी कहते हैं। सम्प्रति नर्मदा के उत्तर बार्हस्पत्य और दक्षिण में चान्द्रसौर संवत्सर प्रचलित हैं।

1.4 पंचांग का इतिहास –

पंचांग निर्माण की परम्परा वैदिककाल से ही चली आ रही है। इस कारण इसका इतिहास भी वैदिककाल के आसन्न ही आरम्भ होता है। यह स्पष्टतया कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि किस निश्चित तिथि से पंचांग का आरम्भ हुआ होगा। यहाँ विभिन्न कालखण्ड के आधार पर पंचांग का इतिहास की चर्चा करते हैं।

स्वायम्भुव काल (२९१०२ ई0पू0) से सम्भवत: ४ वर्ष के युग तथा समान युग खण्डों का आरम्भ हुआ। इसे आर्य मत कहा जाता था। जिसे सुरक्षित रखने के लिए ३६० कलि में आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीयम्' लिखा। आर्यभट्ट द्वितीय के महासिद्धान्त (२/१/२) के अनुसार महाभारत काल में २ मत प्रचलित थे- आर्यमत तथा पराशर मत। आर्यभट्ट ने आरम्भ तथा अन्त में अपने मत को स्वायम्भुव मत कहा है।

कश्यप (१७५०० ई0पू0) में असुरों का प्रभुत्व था। उस काल में अभिजित नक्षत्र में सूर्य प्रवेश के समय वर्षाऋतु से वर्ष का आरम्भ होता था। अथर्व (८/५/१९-२०) तथा वायुपुराण अध्याय २ के अनुसार सूर्य उत्तर तथा दक्षिण गति में २४,२०,१२ अंश के अक्षांश वृत्तों को १-१ मास में पार करता हैं। यही इथियापियन बाइबिल में इनोक की पुस्तक, अध्याय ४ में है। 'इनोक' को कुरान में 'इदरीस' कहा गया हैं, जो वेद के अत्रि ऋषि थे – ज्योतिष के आचार्य जिनकी सूर्यग्रहण गणना का ऋग्वेद (५/४०/५-९) में उल्लेख है।

कार्तिकेय ने प्राय: १६००० ई0पू0 में धनिष्ठा नक्षत्र में सूर्य के प्रवेश से वर्षाऋतु से वर्ष का आरम्भ

किया। उनकी असुरों पर विजय का रथयात्रा पर्व माघ शुक्ल सप्तमी को होता था। यह अभी भी कोणार्क में इसी समय होता है जहाँ कार्तिकेय नेविजय स्तम्भ बनाया था। बाद के पंचांग में यह आषाढ़ शुक्ल द्वितीया से होता है, जो वर्षा का आरम्भ है।

वैवस्वत मनु ने १३,९०२ ई0पू0 में इतिहास तथा ज्योतिष में असमान युग खण्डों की व्यवस्था की। इनका वर्ष विषुव सम्पात से आरम्भ हुआ। मासों का नामकरण पूर्णिमा के समय चन्द्र नक्षत्र के अनुसार है जो ब्रह्मा के काल की परम्परा है।

सत्ययुग के अन्त से १३१ वर्ष अल्प पूर्व ९२३३ ई0पू0 में मयासुर ने वैवस्वत मनु के पंचांग में संशोधन किया। इसके लिए सम्भवत: रोमक पत्तन (मोरक्को का रबात या निकटवर्ती कोनार्की) में सभा हुई थी। इसका कारण बताया गया हैं कि बहुत काल बीत जाने के कारण विवस्वान (सूर्य) की गणना में भूल हो रही थी, अत: उसका संशोधन किया गया। भूल का कारण है कि प्राय: १०००० ई0पू0 के जलप्रलय के कारण पृथ्वी का अक्ष भ्रमण धीमा हो गया था। अत: दिन आधारित गणना में भूल होगी। अन्य कारण हैं कि ४६७० वर्ष बाद ऋतु चक्र प्राय: २ मास पीछे चला जायेगा।

मयासुर के २५०० वर्ष बाद परशुराम का कलम्ब सम्वत् आरम्भ हुआ। युधिष्ठिर काल में ४ प्रकार के वर्ष थे। कलि आरम्भ से वेद-पुराणों का सम्पादन हुआ जिसके अनुसार समाज के मानदण्ड बदलें, अत: इसे 'संवत्' कहते है।

इसके ३००० वर्ष बाद ऋतु चक्र १.५ मास पीछे खिसक गया, अत: विक्रमादित्य ने शुक्ल के बदले कृष्णपक्ष से मास का आरम्भ किया।

विक्रमादित्य से २००० वर्ष बाद ऋतुचक्र पुन: १ मास पीछे हो गया है, अत: इसमें संशोधन की आवश्यकता है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि पंचांग का इतिहास किस प्रकार से था, तथा कहाँ-कहाँ क्या समस्यायें थी।

सम्प्रति भारतवर्ष में पंचांग निर्माण दो पद्धति पर आधारित है – प्रथम सायन एवं द्वितीय निरयण। सायन का अर्थ अयनांश सहित है। निरयण का अर्थ अयनांश रहित होता है। सायन मान की परम्परा इस प्रकार है – सायन वर्षमान नैसर्गिक है। अत: सृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् जब से वर्ष शब्द का व्यवहार होने लगा है तभी से उसका प्रचार होना चाहिए और वस्तुत: वह तभी से प्रचलित है। प्राय: वेदकाल में उसी का प्रचार था। मधु, माधव इत्यादि संज्ञाओं का प्रचार होने के पूर्व अधिकमास का प्रक्षेपण कर ऋतुओं के पर्यय द्वारा वर्ष मानते रहे होंगे अर्थात् उस समय कुछ स्थूल सायन ही वर्ष प्रचलित रहा होगा। उसके बाद मध्वादि नामों का प्रचार हुआ। उस समय सायनवर्ष के मान में बहुत

सूक्ष्मत्व आ गया था। उसके सैकड़ों वर्ष बाद चैत्रादि नाम प्रचलित हुए, तब तक सायन मान का ही प्रचार था। शकपूर्व २००० वर्ष के लगभग चैत्रादि संज्ञायें प्रचलित हुई और निरयन मान की नींव पड़ी। वेदांगज्योतिष में धनिष्ठारम्भ से वर्षारम्भ माना है। यह निरयन मान है। परन्तु वेदांगज्योतिष में उत्तरायणारम्भ से भी वर्षारम्भ माना है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नहीं देते, इससे धनिष्ठा के आरम्भ में सूर्य के आने के काल को जानने की अपेक्षा उत्तरायणारम्भ काल जानना एक अज्ञ के लिए भी सुगम होता है, अत: वस्तुत: अयनारम्भ से ही वर्ष का आरम्भ मानते रहे होंगे। पहले बता चुके हैं कि वेदांगज्योतिष की पद्धति बड़ी अशुद्ध है, अत: उस समय ९५ वर्षों में ३८ के स्थान में ३५ अधिमास मानकर उत्तरायणारम्भ में वर्षारम्भ मानने की पद्धति का प्रचलित रहना ही अधिक सम्भवनीय ज्ञात होता है।

1.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र का मूलाधार आकाशीय ग्रहनक्षत्रों का गणित तथा वेध है। गणित के आधार पर सूर्य चन्द्रादि की स्थितियों का सही निर्णय कर गोलीयवेध से दृग्गणितैक्यजन्य समन्वय के द्वारा ग्रहों की वास्तविक दृष्टयुपलब्ध स्थिति ही, उनकी व्यवहारिक उपयोगिता का मूल आधार है। पर्व, धर्मकार्य, यात्रा, विवाह, उत्सव जातक तथा भविष्यफल की जानकारी हेतु ग्रहगणित की शुद्धता की परख पंचांगनिर्माण के द्वारा ही सिद्ध होता है। पंचानां अंगानां समाहार: इति पंचांगम्। पंचांग में पाँच अंग प्रधान होते है – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण। इन पाँच अंगों के समाहार को पंचांग कहते है। भारतवर्ष में पंचांग निर्माण की प्रथा वैदिककाल से चली आ रही है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पंचांग का प्रादुर्भव हमारे देश में तभी से प्रचलित हुआ होगा जब हमें ज्योतिषशास्त्र का किंचित ज्ञान होने लगा था, पर यह निश्चित है कि वह पुराना पंचांग आज के समान नहीं था। पंच अंग के स्थान पर कदाचित् उस समय चतुरंग, त्र्यंग, द्वयंग अथवा एकांग भी प्रचलित थे और लिपि का ज्ञान होने के पहले तो कदाचित् श्रवण कर मुखार्थ ही उनका ज्ञान कर लेते रहे होंगे। परन्तु इतना अवश्य है कि ज्योतिषस्थिति दर्शक कोई पदार्थ अति प्राचीनकाल से ही प्रचलित रहा है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

पंचांग – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण रूपी पाँच अंगों के समाहार को पंचांग कहते है।

तिथि – सूर्य एवं चन्द्रमा के द्वादश अंशात्मक गत्यन्तर को तिथि कहते है।

नक्षत्र – न क्षरतीति नक्षत्रम्।

सायन – अयनांश सहित सायनम्।

निरयण – अयनांश रहित निरयणम्।

वेदांगज्योतिष – महात्मा लगध प्रणीत ग्रन्थ।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ख
2. क
3. ख
4. क
5. क
6. क

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय ज्योतिष – श्री शंकरबालकृष्णदीक्षित
2. वेदांग ज्योतिष – मूल लेखक – महात्मा लगध, टिका – आचार्य शिवराज कौण्डिन्यायन
3. संवत्सरावली – टिका – पण्डित हीरालाल मिश्र:
4. अथर्वज्योतिष
5. भारतीय पंचांग की परम्परा और विकास

1.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. भारतीय ज्योतिष - आचार्य नेमिचन्द्र शास्त्री
2. ग्रहलाघवम् - प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय
3. पंचांग समिति का प्रतिवेदन – पंडित दीनानाथ शास्त्री चुलैट
4. भारतीय कुण्डली विज्ञान – मीठालाल ओझा
5. केशवीय जातक पद्धति – आचार्य केशव दैवज्ञ प्रणीत। टिका – डॉ0 सुरकान्त झा

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय पंचांग के स्वरूप पर प्रकाश डालें।
2. पंचांग में उद्धृत विभिन्न कालों का वर्णन कीजिये।
3. पंचांग के इतिहास का वर्णन कीजिये।
4. ज्योतिष में पंचांग का महत्व प्रतिपादित कीजिये।

इकाई - 2 पंचांग निर्माण की परम्परा

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 पंचांग निर्माण की परम्परा

2.3.1 वैदिककालीन पंचांग का उल्लेख

2.3.2 पंचांग निर्माण के प्रमुख तीन पक्ष

2.4 सौर पंचांग का वर्तमान प्रचलित स्वरूप

2.5 सारांश

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 सहायक पाठ्यसामग्री

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई MAJY-503 के प्रथम खण्ड की द्वितीय इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – पंचांग निर्माण की परम्परा। इससे पूर्व की इकाई में आपने पंचांग के स्वरूप व उसके इतिहास को जान लिया है। अब आप इस इकाई में पंचांग निर्माण की परम्परा का अध्ययन करने जा रहे है।

भारतवर्ष में पंचांग निर्माण की रीति प्राचीनतम वैदिक काल से ही विद्यमान है। पंचांग तभी से प्रचलित हुआ होगा जब हमें ज्योतिष का ज्ञान प्रथमत: हुआ था। भारतवर्ष में तीन पक्षों के आधार पर पंचांग निर्माण की परम्परा आधारित है। मुख्यत: सायन एवं निरयण पद्धति द्वारा भारतवर्ष में पंचांग निर्माण किये जाते हैं।

प्रस्तुत इकाई में आइए पंचाग निर्माण की परम्परा को समझने का प्रयास करते है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप जान लेंगे कि –

- पंचांग निर्माण का आरम्भ भारतवर्ष में कब से हुआ है।
- पंचांग निर्माण विधि का आधार क्या है।
- भारत में कितने प्रकार के पंचांगों का निर्माण होता है।
- पंचांग निर्माण हेतु कुल कितने पक्ष है।
- पंचांग निर्माण की परम्परा कब से प्रचलित है।

2.3 पंचांग निर्माण की परम्परा

भारत में पंचांग निर्माण की प्रथा लोकप्रियता के साथ वैदिक काल से आज तक प्रचलित है। समय-समय पर इसके स्वरूप में परिवर्तन एवं परिष्कार अवश्य हुये हैं तथा अब भी इस प्रकार के परिवर्धनों एवं परिष्कारों की सम्भावनायें बनी हुई हैं। भारतीय पंचांगों का क्षेत्र विस्तृत है, जबकि अन्य देशों में पंचांगों का अति संक्षिप्त स्वरूप देखने में आता है। इसीलिए पंचांग के लिए विदेशी भाषा में 'कैलेण्डर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो उनके लिए तो उपयुक्त है किन्तु कैलेण्डर शब्द से भारतीय पंचांगों का बोध नहीं हो पाता। वैदिक काल में पंचांग का स्वरूप आज के सादृश्य

नहीं था, किन्तु पंचांग निर्माण की परम्परा अवश्य थी। 'भारतीय ज्योतिष' के लेखक आचार्य शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी के अनुसार पंचांग के स्थान में पहले किसी समय चार अंग, तीन अंग या दो अंग भी प्रचलित रहे होंगे तथा लिपि का ज्ञान से पहले आकाशीय दर्शन से इसका ज्ञान कर लेते रहे होगें। परन्तु इतना अवश्य है कि ज्योतिष की स्थिति तथा गोलीय वेध के प्रमाण एवं संकेत अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। दीक्षित जी ने इसे 'ज्योतिदर्पण' कहा है। पं. दीनानाथ शास्त्री चुलैट के अनुसार वैदिक काल में चार प्रकार के सुपर्णचिति, कंकचिति आदि पंचांग बनते थे।

पंचांग पाँच अंगों का समवेत स्वरूप है। उन पाँच अंगों के नाम क्रमश: इस प्रकार है – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण। इन पाँचों अंगों के आधार पर किसी भी शुभकार्य हेतु शुभ समय का निर्णय किया जाता है। जहाँ ये अंग हमें शुभाशुभ समय का ज्ञान करातें हैं वहीं हमें आकाश दर्शन में भी सहायक होते हैं। इन अंगों के निरूपण के साथ-साथ ग्रहों की गति, स्थिति एवं चार का ज्ञान पंचांग के माध्यम से अत्यन्त सरल ढंग से हो जाता है। इसीलिए आवश्यक हो जाता है कि आकाशीय घटनाओं के साथ-साथ उनके परिणामों का भी उल्लेख कर अधिकाधिक लोगों को अवगत कराया जा सके। इस दृष्टि से ज्योतिष के सिद्धान्त, संहिता एवं होरा स्कन्धों के अनेक व्यावहारिक विषयों का समावेश आधुनिक पंचांगों में होने लगा है। आज पंचांग ज्योतिष सम्बन्धी अनेक विषयों का महत्वपूर्ण संकलन भी है। यदि कोई व्यक्ति केवल पंचांगों का ही अध्ययन कर ले तो वह अनेक व्यावहारिक विषयों का ज्ञाता हो सकता है। यही कारण है कि आज पंचांग हमारी जीवन पद्धति के अंग बन चुके हैं।

आज भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्रकाशित होने वाली प्रमुख पंचांगों की संख्या ३०० से अधिक है। इनकी संख्या में दिनों दिन विस्तार होते जा रहा है। यह भी इसकी लोकप्रियता का सूचक है। पंचांगों के आधार पर ही समस्त धार्मिक क्रियाओं एवं अनुष्ठानों का सम्पादन भी होता है। अत: इसका सम्बन्ध धार्मिक भावनाओं से जुड़ा है। कुछ विद्वान अपनी पारम्परिक पद्धति के अनुसार ही पंचांग का निर्माण करना चाहते हैं तथा कुछ विद्वान आधुनिकतम विधियों के अनुसार साधित ग्रहों के आधार पर पंचांग का निर्माण करते हैं।

2.3.1 वैदिकालीन पंचांग का उल्लेख -

पंचांग निर्माण की परम्परा के अन्तर्गत वेदों में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है कि, अमुक दिन, नक्षत्र और ऋतु में अमुकामुक कर्म करना चाहिए। अत: स्पष्ट है कि ज्योतिशास्त्र बहुत प्राचीन है। इसका प्रथम अंग सावन दिन है। इस समय सावनदिन को केवल **दिन** या **वार** कहते है। सावन दिन के बाद नक्षत्रों का ज्ञान हुआ होगा, अत: नक्षत्र दुसरी इकाई बना। इसके बाद सूर्य तथा चन्द्र के

अन्तर से 'तिथि' का ज्ञान हुआ होगा। वेदांग ज्योतिष काल अर्थात् शक पूर्व १४०० वर्ष तक संभवत: तिथि नक्षत्र और सावन दिन ये तीन अंग संभवत: थे। तिथि का मध्यम मान ६० घटी रहा होगा।अर्थात् उसे नाक्षत्र अहोरात्र दर्शक होना चाहिए। उसके अनुसार केवल दिन अथवा केवल रात्रि के दर्शक तिथि का आधा अर्थात् करण नामक अंग का प्रचार तिथि के प्रसार के थोड़े ही बाद हुआ होगा और उसके बाद योग प्रचलित हुआ होगा।

अथर्वज्योतिष में करण और वार दोनों विद्यमान है, हमारे देश में शकारम्भ के पूर्व नक्षत्रप्रधान गणना रहने पर भी मेषादि संज्ञाओ का प्रचार वैदिक काल में हुआ होगा। यह भी देखा जाता है, कि अथर्वज्योतिष और याज्ञवल्यस्मृति में राशियों का ज्ञान होने के शताब्दी पूर्व वारों का का ज्ञान हुआ होगा। एक अन्य ग्रन्थ में भी इसका प्रमाण मिलता है। ऋकगृह्य परिशिष्ट में तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र एवं तिथियों की नन्दादि संज्ञाओं दिन क्षय और वार का वर्णन है परन्तु मेषादि राशियों का स्पष्ट वर्णन नहीं है। अत: ये तीनों ग्रन्थ मेषादि राशियों के प्रचार होने के पूर्व के हो सकते है। परन्तु इन तीनों का निर्माण एक ही समय नहीं होगें यह निश्चित है। इससे ज्ञात होता है कि वारों का ज्ञान मेषादि संज्ञाओं से कई शताब्दी पूर्व हुआ है। वारों और मेषादि संज्ञाओं की उत्पत्ति सर्वप्रथम आधुनिक समालोचकों के अनुसार चाहे जहाँ हुई हो पर उनका सर्वत्र प्रचार होने से उनका मूल एक होना चाहिए। क्योंकि उनमें गणितादि का कोई प्रपंच नहीं है। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में दोनों एक साथ प्रचलित हुए होंगे। आधुनिक संकल्पना के अनुसार वारों का प्रचार मेषादि राशियों से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्थात् शक पूर्व १०००० के आस पास हुआ होगा। वे शक पूर्व ३००० अर्वाचीन तो वे कथमपि नहीं ही है।

करण नामक काल विभाग तिथि द्वारा अपने आप ध्यान में आने योग्य है। तिथि के कुछ दिनों बाद और वार के पूर्व उसका प्रचार प्रसार हुआ होगा। वेदांककालीन जिन ग्रन्थों का विवेचन भारतीय ज्योतिष में किया गया है, उनमें से अथर्वज्योतिष याज्ञवल्क्यस्मृति और ऋकगृह्य परिशिष्ट, इन तीनों ग्रन्थों में वार शब्द आये है। इन तीनों में से याज्ञवल्क्यस्मृति में करण नहीं है। शेष दो करण का वर्णन मिलता है। इससे शंका होती है कि वार के पहले करणों का प्रचार नहीं रहा होगा। यदि यह ठीक है तो दोनों का प्रचार एक ही समय हुआ होगा अथवा करण वारों के कुछ दिनों बाद शीघ्र ही प्रचलित हुए होंगे। इससे ज्ञात होता है कि ये भी शक पूर्व ३००० से अर्वाचीन नहीं है। शनिवार, रविवार, सोमवार इत्यादि वार क्रम की उपपत्ति का वर्णन ज्योतिष सिद्धान्तों के आधार पर दीक्षित जी ने 'भारतीय जयोतिष' नामक अपने ग्रन्थ में किया है।

इससे ज्ञात होता है कि वार क्रम के निर्धारण में मूल कारण होरानामक काल विभाग है।

इससे निम्नलिखित प्रकार की उपपत्ति का ज्ञान हमलोग कर सके है। चन्द्रमा से आरम्भ कर उर्ध्वक्रम से घटिकाधिपति मानें तो प्रथम दिन का स्वामी अर्थात् प्रथम दिन की घटी का स्वामी चन्द्रमा और दूसरे दिन की प्रथम घटी का स्वामी उससे पाँचवा अर्थात् मंगल होगा। वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका के त्रैलोक्य संस्थान में लिखा भी है 'उर्ध्व क्रमेण दिनपाश्च पंचमा:' परन्तु इस पक्ष में अर्थात् होराधिपों का वर्णन वराहमिहिर के ग्रन्थों में है परन्तु घटिकाधिप की चर्चा अन्य किसी ने संभवत: इस तरह से नहीं की है। कुछ यूरोपियन विद्वान दिन की उत्पत्ति का प्रथमस्थान मिस्र और किसी ने खाल्डिया बताया है। कन्धिम का कथन है कि डायन काशिअस ने लिखा है कि वारों की पद्धति मिस्र देश की है, परन्तु मिस्र के लोग सात दिन के सप्ताह द्वारा मास के विभाग नहीं करते थे। बल्कि वे एक एक भाग दस-दस का मानते थे। बाद में ७ दिन का माननें लगे। इससे कहा जा सकता है कि वारों का उद्गम स्थान मिस्र नहीं है। वहाँ के प्राचीन लिपि और प्राचीन भाषा में निष्णात रेनुफ नामक विद्वान ने अपने सन् १८९० ई0 के ग्रन्थ में लिखा है, कि मिस्र देश में अहोरात्र का होरा या होरस् नामक देवता मानते थे। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन मिस्र में होरा शब्द और काल विभाग प्रचलित था। अत: वहाँ वारों की उत्पत्ति की सम्भावना हो सकती है। दीक्षित के विवेचन के अनुसार होरा क्रम से वारों की उत्पत्ति का मूल भारतीय नहीं है। तो क्या श्रीमान दीक्षित जी सारे प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ तथा समझ लिए थे? यह सोचनीय है।

आजकल होरा शब्द ग्रीक देशीय माना जाता है, परन्तु 'हीरोडोटस' की उक्ति है कि वह काल विभाग ग्रीको को संभवत: बेविलोन अर्थात् खाल्डिया से प्राप्त हुआ होगा। अत: इन मतभेदों के कारण वारों का उत्पत्ति स्थान निश्चय पूर्वक नहीं बताया जा सकता। श्रीदीक्षित के अनुसार सम्भव है कि उनकी उत्पत्ति ग्रीस में हुई हो परन्तु यह भी निश्चित है कि उनका उत्पत्ति स्थान उन तीनों देशों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है।

2.3.2 पंचांग निर्माण के प्रमुख तीन पक्ष -

भारतवर्ष में पंचांग निर्माण की परम्परा तीन पक्षों पर आधारित है – आर्यपक्ष, सौरपक्ष एवं ब्राह्मपक्ष। इसका उल्लेख ग्रहलाघवकार गणेशदैवज्ञ जी ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है –

सौरोऽर्कोऽपि विधूच्चमङ्ककलिकोनाब्जो गुरुस्त्वार्यजो।
ऽसृग्राहु च कजं ज्ञकेन्द्रकमथार्येशेषुभाग: शनि:।।
शौक्रं केन्द्रमजार्य मध्यगतिमे यान्ति दृक्तुल्यतां।
सिर्द्धस्तैरिह पर्वधर्मनयसत्कार्यादिकं त्वादिशेत्।।

सम्प्रति इन तीनों पक्षों में स्पष्ट सिद्धान्त 'सौरसिद्धान्त' को कहा जाता है। आचार्य गणेश दैवज्ञ जी

जब ग्रहलाघव की रचना कर रहे थे, उस समय सूर्यसिद्धान्त, आर्यसिद्धान्त तथा ब्रह्मसिद्धान्त तीनों को का अवलोकन करते हुए उन्होंने तीनों में ग्रहों का अन्तर बतलाया। इस श्लोक के अनुसार सूर्यसिद्धान्त (सौर पक्ष) के अनुसार सूर्य चन्द्रोच्च एवं चन्द्रमा ९ कला घटाने पर वेध के सापेक्ष मिलता है। गुरु आर्य सिद्धान्त (आर्य पक्ष) के अनुसार मंगल और राहु, ब्रह्मसिद्धान्त के अनुसार तथा बुध केन्द्र वेध से इसके अनुसार मिलता है। आर्यसिद्धान्त के अनुसार 5 अंश से अधिक शनि वेध से मिलता है। ब्रह्मसिद्धान्त और आर्यसिद्धान्त दोनों की रीति के अनुसार सिद्ध करके उन दोनों का योग करके आधा करने पर शुक्र केन्द्र वेध से मिलता है। गणेशदैवज्ञ जी के मत में इन संशोधनों के उपरान्त ये ग्रह दृग्गणितैक्य को प्राप्त होते हैं। इन्हीं दृग्गणितैक्य ग्रहों से व्रत, पर्व, न्याय और सत्य का आदेश करना चाहिए। सूर्यसिद्धान्त का भास्वती, मकरन्द ब्राह्मपक्ष का करणप्रकाश और करण कुतूहल तथा आर्यपक्ष का खण्डखाद्य आदि क्रमश: करण के ग्रन्थ है।

भारत से अलग दूसरे देशों में वारों का प्रचार कब से हुआ, इसके विषय में कनिंघम ने कहा है कि रोमन ट्यूबिलस ने ईसा पूर्व की बीच में शनिवार का उल्लेख किया है। तदनन्तर जूलियस फन्टिलस ने लिखा है कि जरुसेलम शनिवार को लिया गया है। रोमन के लोगों ने ईसवी के आरम्भ के आस-पास वारों का व्यवहार आरम्भ किया था। परन्तु उसके पूर्व ही ईरानी या हिन्दुओं को वार ज्ञात हो चुके थे। पाश्चात्य लेखक सेल्सस ने जो आगस्टस (ईसापूर्व २७०) और टाइबेरियस नामक रोमन राजाओं के राज्य काल में था। उसके कथन से ज्ञात होता है, कि ईरान के मन्दिर में सात ग्रहों के नाम के दरवाजे थे। वे उन्हीं धातुओं और रंगों से बनाये गये थे, जो कि उन ग्रहों के रंग थे तथा धातु जो उनके प्रिय थे। यह अविदित है कि मन्दिर आज उपलब्ध है या नहीं?

सूक्ष्मता से विचार के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि वारों की उत्पत्ति भी भारतवर्ष में ही हुई थी। सम्प्रति भूमण्डल में जहाँ-जहाँ वार प्रचलित है, सर्वत्र सात ही है और उनका क्रम भी सर्वत्र एक ही है। अत: वारों की उतपत्ति किसी एक ही स्थान में हुई हैं, यह स्पष्ट है। अहोरात्र शब्द से होरा की उतपत्ति तथा सूर्यसिद्धान्त में वार क्रम की उत्पत्ति का विधान प्राप्त है। मेरी दृष्टि में विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ 'वेद' हीं सूर्यादि क्रम से वारोत्पत्ति का प्रथम मूल है। वहीं से यह सर्वत्र फैला। यद्यपि हमारे देश में अब तक अनेकों ताम्रपट्ट और शिलालेख मिले है, उनमें वारों का उल्लेख का प्राचीनतम उदाहरण शक ४०६ का विद्यामान है। मध्यप्रान्त (मध्यप्रदेश) के 'एरन' नामक स्थान के एक खम्भे पर बुद्धगुप्त राजा का गुप्त वर्ष १६५ अर्थात् शक ४०६ आषाढ़ शुक्ल द्वादशी गुरुवार का एक शिलालेख है। इस समय इससे प्राचीन ज्योतिष का ऐसा पौरूष ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसके लेख से यह विदित होता हो कि वह शक ४०६ से प्राचीन है।

भारतीय ज्योतिष के लेखक श्रीशंकरबालकृष्ण दीक्षित के वारोत्पत्ति क्रम का वैदेशिक बोध का खण्डन श्रीमान् वेदविद्यालंकार पं0 दीनानाथ शास्त्री चुलैट तथा वि0वि0 मधुसूदन के प्रमाण से हो जाता है। वेदों में सभी ग्रह तथा नक्षत्र एवं केतुओं के साथ राशि विज्ञान प्रामाणिकता के साथ प्राप्त होनें से वारक्रम के भारतीयमूल होनें में सन्देह की कोई गुजांईश नहीं है।

अभ्यास प्रश्न – 1

1. पंचांग के लिए विदेशी भाषा में किस शब्द का प्रयोग किया जाता है?
   क. एफेमेरिज ख. कैलेण्डर ग. पंचांग घ. ग्रिगोरियन
2. पंचांग कितने अंगों का समवेत रूप हैं –
   क. तीन ख. पाँच ग. आठ घ. सात
3. 'भारतीय ज्योतिष' ग्रन्थ के लेखक कौन है?
   क. शंकरबालकृणदीक्षित ख. वराहमिहिर ग. गणेशकवि घ. कोई नहीं
4. चन्द्रमा एवं सूर्य की गति का अन्तर क्या कहलाता है?
   क. नक्षत्र ख. चन्द्रार्क ग. तिथि घ. वार
5. भारतवर्ष में पंचांग निर्माण की परम्परा कितने पक्षों पर आधारित हैं?
   क. एक ख. दो ग. तीन घ. चार
6. सूर्यसिद्धान्त किस पक्ष का ग्रन्थ माना जाता है?
   क. आर्य पक्ष ख. सौरपक्ष ग. ब्राह्म पक्ष घ. आर्ष पक्ष
7. वार की उत्पत्ति मूलत: कहाँ से हुई है?
   क. वेद ख. पुराण ग. उपनिषद घ. आगम
8. पंचसिद्धान्तिका के प्रणेता कौन है?
   क. आर्यभट्ट ख. वराहमिहिर ग. भास्कर घ. कमलाकर

आचार्य गणेश दैवज्ञ जी ने परम्परा की बात करते हुए स्वग्रन्थ 'ग्रहलाघव' में कहा है कि –

ब्रह्माचार्य वशिष्ठकश्यपमुखैर्यत्खेटकर्मोदितं।
तत्तत्कालजमेव तथ्यमथतभूरिक्षेणऽभूच्छलथम्।।
प्रयातोऽथमहासुर: कृतयुगान्तेऽर्कात्स्फुटम्।
तोशितादथास्ति स्मं कलौ तु सान्तरमथा भूच्चात्र।।
तज्ज्ञात्वार्यभट्ट: खिलं वहतिथेर्कालेऽकरोत्प्रस्फुटं।

तचच्छास्त्रं किलं दुर्गसिंहमिहिरद्यैस्तन्निबद्धं स्फुटं।।
तच्चाभूच्छिथिनं तु विष्णुतनयेनाकारि वेधात्स्फुटम्।
ब्रह्मोस्त्याऽऽश्रितमे तदप्यथ वहौ काले भवेत्सान्तरम्।।

इसमें ब्रह्मा, वशिष्ठ, कश्यपादि से लेकर स्वकीय कालखण्ड पर्यन्त आचार्य गणेश दैवज्ञ जी ने ऋषि परम्परा को सम्बोधित किया है।

ऋग्वैदिक युग में पंचांग –

इस युग में पंचांग का ज्ञान केवल वैदिक साहित्य से ही प्राप्त किया जा सकता है, जो विभन्न कोटियों का है। जिसका समय भी अत्यधिक भिन्न- भिन्न है। मैक्समूलर यद्यपि भारतीय वाङ्मय की उल्टी सीधी व्याख्या से समस्त भारतीय साहित्य के प्रति जो अनास्था की लहर उत्पन्न की, उस पर बिना विचार किये उसके अनुसार २००० वर्ष के कालखण्ड में वैदिक वाङ्मय का वर्गीकरण निम्नांकित है। इसके चार युग पृथक् किये जा सकते है, जिनमें से प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती काल की पूर्व संकल्पना करता है। ये चार युग निम्नलिखित है –

क. छन्द और मन्त्र – जिनमें संहिता या सूक्त संग्रह, प्रार्थनायें, काम्य मन्त्र, आर्शीमन्त्र, यज्ञीयविधान आदि समाविष्ट है। ऋक् यजु, साम तथा अथर्ववेद क्रम से बने हैं। अर्थात् इसके अनुसार वेद पौरूषेय है।

ख. ब्राह्मण – ये गद्यमय तथा पद्यमय है और उनमें धार्मिक विषय विशेषत: यज्ञों एवं उनके रहस्यात्मक महत्व का विवेचन है। ब्राह्मणों से सम्बन्धित आरण्यक तथा उपनिषद भी है। यद्यपि स्वतन्त्र रूप से भी इनकी परिगणना होती है और इनमें अरण्यवासी साधुओं और सन्यासियों के द्वारा किए हुए परमात्मा तथा जगत एवं मानवों के विषय में विवेचन है। ये ग्रन्थ प्रत्येक वेदों से पृथक-पृथक रुप से सम्बद्ध है। उपनिषद शुद्ध ज्ञानकाण्ड अर्थात् पराविद्या का प्रवेश द्वार है।

ग. इन ग्रन्थों के आधार पर निर्मित सूत्रग्रन्थ या वेदांग – वेदांग जिसका शाब्दिक अर्थ है वेदों के अंग। वेदांग वेदोत्तरकाल में सूत्र ग्रन्थों के आधार पर बनें है। ये वेदों को उनके विभिन्न रुपों में समझने और उनमें अन्तर्निहित विचारों को स्वतन्त्र रुप से समझने के प्रयास है। भारतीय विचारधारा के अनुसार छ: 'वेदांग' निम्नलिखित है।

1. शिक्षा – वैदिक मन्त्र किस प्रकार उच्चारित हो तथा स्मरण किया जाय इसका इन ग्रन्थों में विधान प्राप्त होता है।
2. कल्प – इसके चार भेद ज्ञात है –

- गृह्यसूत्र जो गृहस्थ के गृह कर्मों का विवेचन करते है।
- शुल्वसूत्र – यज्ञीय वेदी के निर्माण एवं विभिन्न मापों का विवेचन करते हैं।
- श्रौतसूत्र – वैदिक विधान ही प्रकट करता है।
- धर्मसूत्र – धार्मिक विधानों की समीक्षा है।

3. व्याकरण - पाणिनी की प्रसिद्ध अष्टाध्यायी जिसमें सभी के लिए लौकिक संस्कृत भाषा को स्थिर कर दिया है। अष्टाध्यायी प्राचीन व्याकरणों के प्रयासों के परिणाम है। पाणिनि के महान व्याकरण ग्रन्थ के सामने अनेक प्राचीन ग्रन्थ अप्रचलित हो गये। इसमें स्वर वैदिकी भी है।
4. निरूक्त – इसमें वैदिक शब्दों की वैज्ञानिक निरूक्ति है तथा यह पाणिनि से पूर्ववर्ती यास्ककृत है। युधिष्ठिर मीमांसक पाणिनी को शकपूर्व २७०० का सिद्ध करते हैं, वहाँ अन्य इन्हें यास्क के पश्चात् (शक् ८००) का मानते हैं। यद्यपि पाश्चात्यों के इन दोनों निर्धारणों की अभी समुचित समीक्षा नहीं हुई है।
5. छन्दस् – पिंगल कृत कहा जाने वाला 'छन्द शास्त्र' है। छादनाच्छन्द से हर वस्तु का परिसीमन भी इसमें जुड़ा है।
6. ज्योतिष – ऋग्ज्योतिष लगधकृत आज प्राप्त है, लेकिन अष्टादश ऋषि प्रवर्तकों में लगध का उल्लेख नहीं है। यद्यपि समस्त वैदिक एवं सूत्र साहित्य में ज्योतिष का वर्णन होनें से ज्योतिषदर्पणरुप पंचांग का भी प्रासंगिक निर्देश हो जाता है। हमारा यहाँ अभीष्ट विषय केवल काल विधायक वेद नेत्ररुप वेदांग ज्योतिष का विश्लेषण है। निम्नांकित वैदिक मन्त्र जहाँ वैदिक ज्योतिर्विज्ञान के समुत्कृष्ट विकास का संकेत प्रदान करते हैं, वहाँ अधिकांश पाश्चात्य एवं उनके अनुयायी इतिहासकार वैदिक वाङ्मय के सम्बद्ध में सर्वत्र भ्रामक मतवाद ही फैलाते नजर आते है –

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वति चक्रं परिध्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः।।

१२ आरों से युक्त क्षीण नहीं होता। वह अमृतमय परिधि के चारों ओर घूमता है। उस चक्र में अग्निपुत्रों के ७२० मिथुन जोड़े हैं। अर्थात् वह चक्र या कालचक्र या अमृतमय द्युलोक की परिधि में १२ विभाग हैं, जिसमें बारह विभागात्मक अरे है। वे अमृतमय द्युलोक की परिधि के चारों ओर घूमता है, कभी जरात्व (क्षीणता) को प्राप्त नहीं होता। इस में अग्निपुत्रों के ७२० मिथुनात्मक जोड़े

स्थित है। यहाँ द्वादश विभागात्मक वर्ष की उपमा उस चक्र से की गयी है। जिसमें १२ अरे १२ राशियाँ या मास अग्निसोमात्मक मिथुन है। उन अग्नि पुत्रों के ७२० जोड़े ३६० सौरदिन और ३६० रात्रि मिथुनात्मक भाव से अवस्थित है।

अर्थात् सामान्य रूप से इनकी मान्य व्याख्या यह है कि वर्ष ३६० सौरदिनों तथा १२ मासों का वर्ष माना जाता था और (अग्नितत्वात्मक दिन तथा सोमतत्वात्मक) रात तथा दिन के सौर दिवसात्मक जोड़े हैं। ऋग्वेद (१,१६४,४८) की यह पंक्ति इसे और स्पष्ट करता है –

द्वादश पधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।

तस्मिनत्साकं त्रिशता च शंकवो र्पिता: षष्टिर्न चलाचलास:।।

बारह अर फलकें- एक चक्र तीन नाभियाँ। कौन इन्हें समझता है? इनमें ३६० शंकु लगे हुए है जो चल होकर भी ढीले नहीं होते। यहाँ वर्ष की तुलना घूमने वाले चक्र से की गयी है जिसकी परिधि १२ भागों में विभक्त है। वे तीन नाभियों में वर्गीकृत है। यहाँ भी ३६० दिन का वर्ष है जो १२ मासों में विभक्त हैं। चार मासों के एक-एक इस प्रकार तीन नाभि केन्द्र के द्योतक है। शीत, ग्रीष्म, वर्षा के रुप में मुख्य तीन ऋतुयें तीन केन्द्र हैं। अथवा दोनों तरफ से तीन-तीन केन्द्रात्मक है। जैसा प्राचीनतम शिलालेखों में मिलता है। यदि अन्तिम अंश की व्याख्या सही है तो हमें परवर्ती चातुर्मास्य पद्धति या वर्ष अथवा वर्ष का चार मासों तीन ऋतुओं में वर्गीकरण का प्राचीनतम निर्देश प्राप्त होता है। इन अंशों से यही भी प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि एक समय ३६० सौरदिनों का वर्ष मानते थे। प्राचीन मिस्रवासी ख्सल्डियन तथा ग्रीक एवं यहूदी भी इसी प्रकार मानते थे। ध्यान देने पर यह स्पष्ट होता है कि वैदिक संहिताओं में सावन तथा चान्द्र का भी विधिवत् निवेश है, क्योंकि निम्नलिखित निर्देश प्रकट करता है कि वे तेरहवें मास का भी उपयोग चान्द्र-सौर समन्वय के लिए भी वे करते थे। यथा –

वेद मासो धृतव्रतों द्वादश प्रजावत: वेदा य उपजायते।। ऋग्वेद (१,२५,८)

अर्थात् ध्रुवव्रत (वरुण) बारह मासों को जानते है और वे अधिमास को जानते है, जो बारह मासों के समीप रखा गया है। यह अंश इस बात को स्पष्ट बताता है कि पंचांग (चान्द्र+सौर) था। दोनों में समन्वय कैसे बैठाया गया? ऋग्वेद का एक सूक्त जिसका सर्वप्रथम उल्लेख लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने किया –

द्वादश द्यून यदगोप्यातिभ्यो रणन्नुभव: ससन्त:। सुक्षेत्राकुण्वन्नयं त सिन्धून धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमाप:।। (ऋग्वेद ४.३३.७) अर्थात् १२ दिनों के लिए सोने वाले ऋतुओं ने अपने को अगोप्य (सूर्य) के रूप में सुखदायक बनाया है, वे खेतों को सुव्यवस्थित करते और नदियों को गतिशील करते है। औषधियाँ सुन्दर प्रदेशों में बढ़ती है और निम्नस्थल पर बरसात में जल

फैलता है। लोकमान्य तिलक के अनुसार ऋभु ऋतुओं के सन्धि काल हैं। वे उपर्युक्त मन्त्र में १२ दिन सूर्य के आतिथ्य के भागी बताए गए है। तिलक के अनुसार यह अंश सौर और चान्द्र वर्ष के समन्वय का आशय है अर्थात् ३६६-३५४ = १२ सावनदिन।

2.4 सौर पंचांग का वर्तमान प्रचलित स्वरूप

आधुनिक सूर्यसिद्धान्तानुसार वर्तमान कलियुग के आरम्भ में मध्यम मान से सभी ग्रह एक स्थान में आते है। इसी प्रकार कृतयुग के अन्त में भी जब सूर्यसिद्धान्त बना, उस समय सभी ग्रह एकत्र थे। जैसा कि इस ग्रन्थ के मध्यमाधिकार में कहा गया है –

अस्मिन् कृतयुगस्यान्ते सर्वेमध्यगता ग्रहा:।।

ग्रहों की महायुगीय भगण संख्या ४ से नि:शेष हो जाती है। अत: ४ महायुग तथा २ कलियुग में सभी के भगण पूर्ण हो जाते हैं। अर्थात् २ कलियुग तुल्य समय के बाद सभी ग्रह एकत्र हो जाया करते हैं। ब्रह्म दिन के आरम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ पर्यन्त ७१×६×१०×७×४ + २७ ×१०×९ = ४५२७ + २९ कलियुग (३१७९ + १९३३ वर्ष गतकलि) कलियुग तुल्य समय व्यतीत हो चुका है। यह संख्या २ से नहीं कटती। यदि इसमें से कुछ वर्ष सृष्ट्योत्पत्ति सम्बन्धि न मानें तो कल्पारम्भ में सभी ग्रह एक स्थान में नहीं आते है। इसमें से सृष्टिरचना का २९ कलियुग तुल्य समय निकाल देने से ४५२७ कलियुग शेष रहे जाते हैं। यह संख्या २ से नि:शेष रह जाती है। इस प्रकार सृष्ट्यारम्भ में सभी ग्रह एकत्र मानने से वर्तमान कलियुग के आरम्भ में और उसके पूर्व कृतयुग के अन्त में भी सभी ग्रह एक स्थान में आते है। इसी प्रकार ग्रहों के उच्च तथा पातों की एक कल्प सम्बन्धी उपर्युक्त भगणसंख्या के अनुसार वे सृष्ट्यारम्भ के अतिरिक्त अन्य किसी भी समय सभी ग्रह एकत्र नहीं होते हैं।

अभ्यास प्रश्न – 2

1. वेदांग की संख्या ..... है।
2. महर्षि यास्क ..... के प्रणेता कहे जाते है।
3. ज्योतिष वेद का ..... अंग है।
4. एक कल्प में ..... महायुग होते हैं।
5. अष्टाध्यायी ..... की रचना है।
6. सौरपंचांग ..... ग्रन्थ पर आधारित है।

2.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि भारत में पंचांग निर्माण की प्रथा लोकप्रियता के साथ वैदिक काल से आज तक प्रचलित है। समय-समय पर इसके स्वरूप में परिवर्तन एवं परिष्कार अवश्य हुये हैं तथा अब भी इस प्रकार के परिवर्धनों एवं परिष्कारों की सम्भावनायें बनी हुई हैं। भारतीय पंचांगों का क्षेत्र विस्तृत है, जबकि अन्य देशों में पंचांगों का अति संक्षिप्त स्वरूप देखने में आता है। इसीलिए पंचांग के लिए विदेशी भाषा में 'कैलेण्डर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो उनके लिए तो उपयुक्त है किन्तु कैलेण्डर शब्द से भारतीय पंचांगों का बोध नहीं हो पाता। वैदिक काल में पंचांग का स्वरूप आज के सादृश्य नहीं था, किन्तु पंचांग निर्माण की परम्परा अवश्य थी। 'भारतीय ज्योतिष' के लेखक आचार्य शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी के अनुसार पंचांग के स्थान में पहले किसी समय चार अंग, तीन अंग या दो अंग भी प्रचलित रहे होंगे तथा लिपि का ज्ञान से पहले आकाशीय दर्शन से इसका ज्ञान कर लेते रहे होगें। परन्तु इतना अवश्य है कि ज्योतिष की स्थिति तथा गोलीय वेध के प्रमाण एवं संकेत अति प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। दीक्षित जी ने इसे 'ज्योतिदर्पण' कहा है। पं. दीनानाथ शास्त्री चुलैट के अनुसार वैदिक काल में चार प्रकार के सुपर्णचिति, कंकचिति आदि पंचांग बनते थे। पंचांग पाँच अंगों का समवेत स्वरूप है। उन पाँच अंगों के नाम क्रमश: इस प्रकार है – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण। इन पाँचों अंगों के आधार पर किसी भी शुभकार्य हेतु शुभ समय का निर्णय किया जाता है। जहाँ ये अंग हमें शुभाशुभ समय का ज्ञान करातें हैं, वहीं हमें आकाश दर्शन में भी सहायक होते हैं।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

कृतयुग – सत्ययुग

पंचांग – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण रूपी पाँच अंगों के समाहार को पंचांग कहते है।

तिथि – सूर्य एवं चन्द्रमा के द्वादश अंशात्मक गत्यन्तर को तिथि कहते है।

कैलेण्डर – विदेशों में पंचांग को ही कैलेण्डर से सम्बोधित करते है।

भगण – १२ राशियों का एक भगण होता है।

पंचांग समिति का प्रतिवदेन – पं0 दीनानाथ शास्त्री चुलैट द्वारा संकलित

वैदिक काल – वेदों का काल।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 का उत्तर

1. ख
2. ख
3. क

4. ग

5. ग

6. ख

7. क

8. ख

अभ्यास प्रश्न -2 का उत्तर

1. 6

2. निरूक्त

3. चक्षुरुपी

4. १०००

5. पाणिनि

6. सूर्यसिद्धान्त

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय ज्योतिष – श्री शंकरबालकृष्णदीक्षित

2. वेदांग ज्योतिष – मूल लेखक – महात्मा लगध, टीका – आचार्य शिवराज कौण्डिन्यायन

3. संवत्सरावली – टीका – पण्डित हीरालाल मिश्र:

4. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र

5. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

2.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. भारतीय ज्योतिष - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री

2. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

3. पंचांग समिति का प्रतिवेदन – पंडित दीनानाथ शास्त्री चुलैट

4. आधुनिक पंचांग दर्शन – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

5. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय पंचांग निर्माण की परम्परा का विस्तृत वर्णन कीजिये।

2. 'त्रिपक्ष' से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।

3. ऋग्वैदिक कालीन पंचांग का उल्लेख कीजिये।

4. पंचांग का महत्व प्रतिपादित कीजिये।

इकाई - 3 पंचांग के अंग एवं सिद्धान्त

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 पंचांग की सामान्य जानकारी

3.3.1 पंचांग के प्रधान अंग एवं सिद्धान्त

3.4 तिथियों के शुभाशुभ स्वरूप

3.4.1 तिथियों एवं वारों के संयोग से शुभ एवं अशुभ विचार

3.4.2 तिथियों एवं नक्षत्रों के संयोग से शुभ एवं अशुभ का विचार

3.4.3 तिथियों, वारों एवं नक्षत्रों के संयोग से शुभाशुभ विचार

3.4.3 वार एवं नक्षत्र के संयोग से सर्वार्थ सिद्धि योग का विचार

3.5 सारांश

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.9 सहायक पाठ्यसामग्री

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई -503 के प्रथम खण्ड की तृतीय इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – पंचांग के अंग एवं सिद्धान्त। इसके पूर्व की इकाईयों में आपने पंचांग के स्वरूप, संक्षिप्त इतिहास व उसकी परम्परा का अध्ययन कर लिया है। अब आप इस इकाई में पंचांग के अंग एवं सिद्धान्त के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

पंचांग के पाँच अंग है – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण। ये पंचांग के प्रधान अंग के रूप में जाने जाते है। इनका सैद्धान्तिक आनयन प्राय: ज्योतिष शास्त्र के समस्त सिद्धान्त ग्रन्थों में वर्णित है।

आइए हम उन पंचांग के अंगों के बारे में विस्तृत अध्ययन करते है तथा उनका सैद्धान्तिक आनयन को भी जानने का प्रयास करते है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- पंचांग के अंगों को समझ लेंगे।
- पंचांग के सैद्धान्तिक प्रक्रिया को जान लेंगे।
- पंचांग के आनयन को समझा लेंगे।
- तिथि आदि पंचांग के अंगों का विभिन्न गणितीय उपपत्तियों को समझ लेंगे।
- पंचांग के महत्व को जान जायेंगे।

3.3 पंचांग की सामान्य जानकारी

पंचांग ज्योतिषशास्त्र का आधारभूत तत्व है। 'पंचांग' कालपुरुष के पाँच अंग – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण के विस्तृत विवरण को कहते है। संस्कृत में पंचांग को इस प्रकार परिभाषित करते हैं - **पंचानां अंगानां समाहार: इति पंचांगम्।** इसे आचार्यों ने श्लोक रूप में भी निम्न प्रकार निबद्ध किया है –

तिथि वारं च नक्षत्रं योग: करणमेव च।
इति पंचांगमाख्यातं व्रतपर्वनिदर्शकम्।।

'संवत्सरावली' नामक ग्रन्थ में पंचांग फलश्रुति का भी निम्न प्रकार उल्लेख किया गया है –

लक्ष्मी: स्यादचला तिथि: श्रवणतो वारात्तथायुश्चिरम्।
नक्षत्रं कृतपापतापशमनं योगो वियोगापहः।।

ज्योतिष शास्त्र के समस्त सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन हो जाने पर भी प्रायोगिक स्थल में जिसके बिना एक ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता भी अभाव का अनुभव करता है, उसका नाम है – पंचांग। आकाश मण्डल में सूर्य-चन्द्रमा के संचार को पंचांग की संज्ञा दी गयी है। प्रलयोपरान्त जब सूर्य का दर्शन होता है तब सृष्टि की रचना आरम्भ होती है। उसी समय से दिन, होरा, वार आदि की गणना होने लगती है। पंचांग द्वारा ही सामाजिक जीवन के सभी प्रकार के मांगलिक कार्यों हेतु शुद्ध तथा पवित्र समय का निर्धारण किया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक कार्य शुभ समय में पूर्ण एवं सम्पादित हो सकें।

पंचांग को हम आधुनिक भाषा में कहें तो वह एक ज्योतिषी का संगणक (कम्प्यूटर) है। जिस में बारह महीनों अर्थात् पूरे वर्ष का समस्त सूक्ष्म से विशाल तक का लेखा-जोखा अंकित रहता है। यही कारण है कि ज्योतिषशास्त्र के अध्येता को सर्वप्रथम पंचांग देखना सिखाया जाता है। पंचांग की परिभाषा में तो पाँच अंगों (तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण) की चर्चा है। किन्तु विदित हो कि पंचांग का क्षेत्र व्यापक है, विशाल है। इससे देखने वाले के सामने समस्त आकाशीय नक्षत्र मण्डल 'करगत फल आमलक समाना' हाथों में स्थित आँवले के फल जैसा सूक्ष्म रूप धारण कर दिखाई देने लगता है। पंचांग के प्रमुख अंगों के आधार पर ही शुभ समय निश्चित किया जाता है। इन पाँचों के परिचय और इन्हीं पाँचों के आपस में मिलाने से अनेक शुभ अथवा अशुभ फल देने वाले समय का ज्ञान प्राप्त होता है। उनका ज्ञान रखना परमावश्यक है। इन पाँचों अंगों के संयोग से उत्पन्न होने वाली शुभ फलदायी काल को ही मुहूर्त्त कहा जाता है। मुहूर्त्तों में भी शुभ मुहूर्त्त का निर्धारण जातक का पिण्ड के आधार पर किया जाता है। यही संहिता शास्त्र के अन्तर्गत पंचांग कहलाता है।

3.3.1 पंचांग के प्रधान अंग

सूर्य तथा चन्द्रमा के मध्य १२ अंश के गत्यात्मक अन्तर को तिथि कहते हैं। इसी तरह की ३० तिथियों से एक चान्द्रमास बनता है। अमावस्या तिथि को चन्द्रमा क्षीण अवस्था में रहता है तथा पूर्णिमा को पूर्ण बली होता है। सूर्य तथा चन्द्रमा आकाश में जहाँ विचरण करते हैं, उसे नक्षत्र कहते हैं। इस पूरे विचरण मार्ग को भगण कहते हैं जो ३६० अंश का होता है। इसके २७ भाग होते हैं। उन्हें २७ नक्षत्र कहा जाता है। इसमें एक नक्षत्र का मान १३ अंश २० कला निश्चित होता है। इस ३६० अंश के भगण को १२ भागों में बाँटने पर १२ राशियाँ प्रकट होती है। इसमें एक राशि का मान ३० अंश होता है। इसे राशि चक्र कहते है। पंचांग के प्रधान अंगों में प्रथम अंग तिथि को कहा गया है।

अत: आइए सर्वप्रथम तिथि के बारे मे जानते हैं।

1. **तिथि** - चन्द्रमा अपने विमण्डल में स्वगति से चलता हुआ जिस समय सूर्य के सन्निकट पहुँच जाता है तब वह अमावस्या तिथि होती है। अर्थात् अमावस्या तिथि के दिन सूर्य-चन्द्र दोनों एक राशि पर आ जाते हैं। उसके बाद सूर्य एवं चन्द्रमा दोनों अपने-अपने मार्ग पर घूमते हुए जो दूरी (१२ अंश की) उत्पन्न करते हैं, उसी को 'तिथि' कहा गया है। १२-१२ अंशात्मक अन्तर की एक-एक तिथि होती है। ३६० अंश पूरा होने पर पुन: सूर्य-चन्द्र एक राशि पर आ जाते हैं, तब एक चान्द्रमास होता है। सूर्य चन्द्र का १२ अंश अन्तर जिस समय में पूरा होता है, उसको तिथि का भोगकाल कहते हैं। तिथि का अन्तर जिस समय से प्रारम्भ होता है, वह पंचांग में अंकित रहता है। जब १,२,३,४ आदि तिथियों में चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती रहती है, उसको शुक्ल पक्ष और जिस समय चन्द्रमा की कलाएँ घटने लगती हैं, उसे कृष्णपक्ष कहा जाता है। इसीलिए चान्द्रमास में दो पक्ष कहे गए है। अमावस्या को पंचांगों में ३० वीं तिथि लिखते हैं। जब चन्द्रमा की कलाएँ पूर्णता को प्राप्त हो जाती है उसे पूर्णिमा एवं घटते-घटते जब कलाएँ हीन हो जाती है, तो वह अमावस्या कही जाती है। सूर्य का मध्यम दैनिक गति १ अंश है तथा चन्द्रमा का मध्यम दैनिक गति १३ अंश है। अर्थात् ये पूर्वाभिमुख होकर १२ अंशों के अन्तर पर गति करते हैं। सूर्य तथा चन्द्रमा का १२ अंशों का अन्तर यदा कदा कम या ज्यादा हो जाता है तब कभी तिथि कम हो जाती है तो कभी तिथि वृद्धि हो जाती है। एक मास में दो पक्ष होते हैं – शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष। शुक्ल पक्ष अन्तिम तिथि को को पूर्णिमा तथा कृष्णपक्ष की अन्तिम तिथि को अमावस्या कहते हैं। अमावस्या को सूर्य-चन्द्र का मिलन होता है। अमावस्या के पश्चात् चन्द्रमा नई तिथि से से नवीन मास का आरम्भ करता है। तिथियों का एक निश्चित समय नहीं होता है। इनका अन्तर तथा अवधि भी समान नहीं होती है। इसमें तिथि क्षय तथा वृद्धि भी होती है। जब सूर्यांशों से चन्द्रमा सूर्य से १२ × १५ = १८० अंश आगे हो जाता है तब पूर्णिमा तिथि समाप्त होती है और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा का आरम्भ होता है। जब चन्द्रमा और सूर्य का अन्तर ३६० अंश अर्थात् शून्य हो जाता है तो अमावस्या होती है। इसी परिभ्रमण को चान्द्र मास कहते हैं।
2. **वार** – पंचांग का दूसरा प्रमुख अंग है –वार। इसका साधन अहर्गण साधन से किया जाता है। ग्रहस्पष्ट के लिए भी भी अहर्गण साधन आवश्यक है। वारों का क्रम ग्रहकक्षा क्रम पर आधारित है। सृष्टि रचना के समय सूर्य ही था इसलिये प्रथम वार सूर्यवार अर्थात् रविवार

आता है। उसके बाद ही अन्य ग्रह क्रम से आते हैं। एक अहोरात्र अर्थात् दिन-रात में २४ होरा होती है। सूर्योदय के समय जिस ग्रह की होरा होती है। उस दिन उसी ग्रह का वार होता है।

वार को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। जब किसी वस्तु का निरीक्षण होता है, तब सर्वप्रथम उत्कृष्ट पर ही दृष्टि पड़ती है। इस स्वयंसिद्ध नियम के अनुसार हमारे ऋषि मुनियों की दृष्टि सर्वप्रथम सूर्य पर पड़ी इसलिए पहला वार सूर्य का निश्चित हुआ। उसके बाद चन्द्रमा पर पड़ी, इसलिए दूसरा वार चन्द्रवार या सोमवार कहा गया। सूर्य कक्षा से नीचे चौथी चन्द्रकक्षा है। इससे चार-चार कक्षा के वार निश्चित किए गए। इस दृष्टि से चन्द्रमा से चौथी कक्षा मंगल की है अत: तीसरा मंगलवार हुआ। मंगल से चौथी कक्षा बुध की होने के कारण चौथे स्थान पर बुधवार सुनिश्चित हुआ इसी तरह बुध से चौथी कक्षा पर गुरु होने से गुरुवार, गुरु से चौथी कक्षा शुक्र की होने से शुक्रवार एवं शुक्र से चौथी कक्षा शनि की पड़ती है। अत: शनिवार को सप्तम वार के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया। इस प्रकार ऋषियों ने वार-क्रम निश्चित कर विश्व का महान उपकार किया है। ज्योतिष शास्त्र का यह सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व में एकरूपता के लिए मान्य है। यह इस शास्त्र का गौरव है।

वारों के वैकल्पिक नाम इस प्रकार प्राप्त होते हैं-

रविवार- भानु, सूर्य, बुध्न, भास्कर, दिवाकर, सविता, प्रभाकर, तपन, दिवेश, दिनेश, अर्क, दिवामणि, चण्डांशु, द्युमणि इत्यादि।

सोमवार- चन्द्र, विधु, इन्दु, निशाकर, शीतांशु, हिमरश्मि, जडांशु, मृगांक, शशांक, हरिपाल इत्यादि।

भौमवार- कुज, भूमितनय, आर, भीमवक्त्र एवं अंगारक इत्यादि।

बुधवार- सौम्य, वित्, ज्ञ, मृगांकजन्मा, कुमारबोधन, तारापुत्र इत्यादि।

गुरूवार- बृहस्पति, इज्य, जीव, सुरेन्द्र, सुरपूज्य, चित्रशिखण्डितनय, वाक्पति इत्यादि।

शुक्रवार- उशना, आस्फुजित्, कवि, भृगु, भार्गव, दैत्यगुरु इत्यादि।

शनिवार- मन्द, शनैश्चर, रवितनय, रौद्र, अर्कि, सौरि, पंगु, शनि इत्यादि।

3. **नक्षत्र** - नक्षत्र को तारा भी कहते हैं। एक नक्षत्र उस पूरे चक्र (३६०°) का २७ वाँ भाग होता है जिस पर सूर्य एक वर्ष में एक परिक्रमा करता है। सभी नक्षत्र प्रतिदिन पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त होते हैं। तथा पुन: पूर्व में उदय होते हैं। इसी को नाक्षत्र अहोरात्र कहते है। यह चक्र सदा समान रहता है। कभी घटता बढ़ता नहीं है। सूर्य जिस मार्ग में भ्रमण करते है, उसे क्रान्तिवृत्त कहते हैं। यह वृत्त ३६० अंशों का होता है। इसके समान रूप से १२ भाग

करने से एक-एक राशि तथा २७ भाग कर देने से एक-एक नक्षत्र कहा गया है। यह चन्द्रमा से सम्बन्धित है। अत: स्पष्ट राश्यादि चन्द्रमा का कलात्मक बनाकर ८०० से भाग देने पर लब्धिगत नक्षत्र संख्या शेष वर्तमान नक्षत्र की सूक्ष्म कला होती है। नक्षत्रों की संख्या २७ कही गयी है। ये नक्षत्र हैं- अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पू0फा0, उ0फा0, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पू0षा0, उ0षा0, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पू0भा0, उ0भा0 तथा रेवती।

विशेष – इन २७ नक्षत्रों के अतिरिक्त अभिजित् नक्षत्र की भी गणना नक्षत्रों में कहीं-कहीं की जाती है। अभिजित् उत्तराषाढ़ा तथा श्रवण के मध्य आता है। उत्तराषाढ़ा का अन्तिम चतुर्थ भाग तथा श्रवण का पहला पन्द्रहवाँ भाग अभिजित् का भोग होता है।

अब नक्षत्रों के बारे में अब आप जान गये होगे। इन नक्षत्रों के आधार पर वर्णों का निर्धारण कर किस प्रकार नक्षत्र नाम का निर्धारण किया जाता है इसके बारे में जानना अति आवश्यक है। इसलिये अग्रिम जानकारी दी जा रही है इसे ध्यान पूर्वक समझना चाहिये।

अश्विनी नक्षत्र के चारो पादों को **चू, चे, चो, ला** के रूप में जाना जाता है। **भरणी नक्षत्र** के चारो पादों को **ली, लू, ले, लो** के रूप में जाना जाता है। **कृत्तिका नक्षत्र** के चारो पादों को **अ, ई, उ, ए** के रूप में जाना जाता है। **रोहिणी नक्षत्र** के चारो पादों को **ओ, वा, वी, वू** के रूप में जाना जाता है। **मृगशिरा नक्षत्र** के चारो पादों को **वे, वो, का, की** के रूप में जाना जाता है। आर्द्रा नक्षत्र के चारो पादों को **कू, घ, ड., छ** के रूप में जाना जाता है। पुनर्वसु के चारो पादों को **के, को, हा, ही** के रूप में जाना जाता है। पुष्य नक्षत्र के चारो पादों को **हू, हे, हो, डा** के रूप में जाना जाता है। आश्लेषा नक्षत्र के चारो पादों को **डी, डू, डे, डो** के रूप में जाना जाता है। मघा नक्षत्र के चारो पादों को **मा, मी, मू, मे** के रूप में जाना जाता है। पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र के चारो पादों को **मो, टा, टी, टू** के रूप में जाना जाता है। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के चारो पादों को **टे, टो, पा, पी** के रूप में जाना जाता है। हस्त नक्षत्र के चारो पादों को **पू, ष, ण, ठ** के रूप में जाना जाता है। चित्रा नक्षत्र के चारो पादों को **पे, पो, रा, री** के रूप में जाना जाता है। स्वाती नक्षत्र के चारो पादों को **रू, रे, रो, ता** के रूप में जाना जाता है। विशाखा नक्षत्र के चारो पादों को **ती, तू, ते, तो** के रूप में जाना जाता है। अनुराधा नक्षत्र के चारो पादों को **ना, नी, नू, ने** के रूप में जाना जाता है। ज्येष्ठा नक्षत्र के चारो पादों को **नो, या, यी, यू** के रूप में जाना जाता है। मूल नक्षत्र के चारो पादों को **ये, यो, भा, भी** के रूप में जाना जाता है। पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र के चारो पादों को **भू, ध, फ, ढ** के रूप में जाना जाता है। उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के चारो पादों को **भे, भो, जा, जी** के रूप में जाना जाता है। श्रवण नक्षत्र के चारो पादों को **खी, खू, खे,**

खो के रूप में जाना जाता है। धनिष्ठा नक्षत्र के चारो पादों को **गा, गी, गू, गे** के रूप में जाना जाता है। शतभिषा नक्षत्र के चारो पादों को **गो, सा, सी, सू** के रूप में जाना जाता है। पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र के चारो पादों को **से, सो, दा, दी** के रूप में जाना जाता है। उत्तराभाद्रपदा नक्षत्र के चारो पादों को **दू, थ, झ, ञ** के रूप में जाना जाता है। रेवती नक्षत्र के चारो पादों को **दे, दो, चा, ची** के रूप में जाना जाता है।

इन पादों का निर्धारण भयात् एवं भभोग के आधार पर होता है। भ का अर्थ नक्षत्र होता है। यात् का गत हुआ होता है यानी जितनी घटी नक्षत्र गत हो गयी उसे भयात् के रूप में एवं जितनी घटी नक्षत्र सम्पूर्ण भोग करेगी उसे भभोग के रूप में जाना जाता है। इसके निर्धारण हेतु बतलाया गया है कि-

गतर्क्ष नाडी खरशेषु शुद्धा, सूर्योदयादिष्ट भवेद् युक्ता।
भयात् संज्ञा भवतीह तस्य, निजर्क्ष्य नाड़ी सहितो भभोगः।।

इसका अर्थ यह हुआ कि गत नक्षत्र को साठ में से घटाकर सूर्योदयादिष्ट को जोड़ देने से भयात् संज्ञा हो जाती है। और वर्तमान नक्षत्र में उस घटाये हुये मान को जोड़ने से भभोग संज्ञा हो जाती है। जिसके आधार पर पाद भेद का निर्धारण हो जाता है। इस प्रकार से इसमें आपने नक्षत्रों के नाम एवं पाद भेद की दृष्टि से उनके वर्णाक्षरों को जाना। इसके ज्ञान से नक्षत्र ज्ञान आपका प्रौढ़ होगा तथा आसानी से आप राशि का निर्माण भी करने में समर्थ हो सकेगें।

नक्षत्र भगण – ग्रह के प्रथम उदय से द्वितीय उदय तक के समय को उस ग्रह का 'सावन दिन' कहते हैं। नाक्षत्र सावन दिन संख्या से ग्रह भगण संख्या घटाने पर ग्रह सावन दिन आता है। चन्द्र भगण से सूर्य भगण संख्या घटाने पर चान्द्रमास संख्या प्राप्त होती है।

अथ भग्रह योगाय भानां वक्ष्ये ध्रुवान शरान्।
संख्याकारान् योगतारा: सागानां बिम्ब विस्तृतो।।

अर्थात् तारा तथा ग्रहयोग जानने के लिए अश्विनी आदि तारागणों का क्रान्ति वृत्तीय ध्रुव राशि आदि, उनका आकार, संख्या, प्रत्येक का योग तारा और उनका शर और योगतारा का बिम्ब विस्तार किया जाता है। नक्षत्र मण्डल के योगतारा का शर या क्रान्तिवृत्त से उत्तर या दक्षिण में उनकी दूरी के अनुसार देखी जाती है। निम्न नक्षत्रों का विक्षेप दक्षिण में होता है- ४,५,६,१६,१७,१८,१९,२०,२१,९,१३,१४,२४। शेष का विक्षेप उत्तर दिशा में होता है। एक नक्षत्र का भोग ८०० कलाओं का तथा एक तिथि का भोग ७२० कलाओं का होता है। ग्रह के भोग को कला बनाकर ८०० कला से भाग देने पर लब्धि, गत नक्षत्रों की संख्या होती है और शेष आगे के नक्षत्र की गतकला की प्राप्ति होती है। गत कला को ग्रह की दैनिक गति से भाग देने पर दिन, मास,

घटीपल आदि प्राप्त होते हैं। ८०० कला में से गत कला को घटाकर शेष को दैनिक गति से भाग देने पर वर्तमान ग्रह उस नक्षत्र में कब तक रहेगा इसका भी पता लगता है।

योग –

कुल सत्ताईस योग होते हैं, जिन्हे क्रमशः विष्कुम्भ, प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल, गण्ड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्धि, व्यतिपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्म, ऐन्द्र एवं वैधृति। इन योगों का प्रयोग संकल्पादि के अवसर पर किया जाता है तथा शुभाशुभ विचार में भी इनका महत्व है। जन्म कुण्डली में योग का फल जानने हेतु इन्ही योगों का प्रयोग देखने को मिलता है।

इसके अलावा आनन्दादि योगों का प्रयोग भी देखने को मिलता है, जिसका प्रयोग यथा नाम तथा गुणः के आधार पर लिखा रहता है। इन योगों की संख्या अट्ठाईस बतलायी गयी है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है-

आनन्दाख्यः कालदण्डश्च धूम्रो धाता सौम्यो ध्वांक्षकेतु क्रमेण।
श्रीवत्साख्यो वज्रकं मुद्गरश्च छत्रं मित्रं मानसं पद्मलुम्बौ।
उत्पातमृत्यु किलकाणसिद्धी शुभो अमृताख्यो मुसलो गदश्च।
मातंगरक्षश्चरसुस्थिराख्याः प्रवर्धमानाः फलदाः स्वनाम्ना।।

अर्थात् इन योगों के नाम इस प्रकार है- 1 आनन्द, 2 कालदण्ड, 3 धूम्र, 4 धाता, 5 सौम्य, 6 ध्वांक्ष, 7 केतु, 8 श्रीवत्स, 9 वज्र, 10 मुद्गर, 11 छत्र, 12 मित्र, 13 मानस, 14 पद्म, 15 लुम्ब, 16 उत्पात, 17 मृत्यु, 18 काण, 19 सिद्धि, 20 शुभ, 21 अमृत, 22 मुशल, 23 गद, 24 मातंग, 25 रक्ष, 26 चर, 27 सुस्थिर और 28 प्रवर्धमान हैं। ये सभी योग अपने नाम के अनुसार फल देने वाले होते है।

इन योगों के निर्धारण का नियम बतलाते हुये कहा गया है कि-

दास्रादर्के मृगादिन्दौ सार्पाद्भौमे कराद्बुधे।
मैत्राद् गुरौ भृगौ वैश्वाद् गण्या मन्दे च वारुणात्।।

अर्थात् रविवार को अश्विनी से, सोमवार को मृगशिरा से, मंगलवार को आश्लेषा से, बुधवार को हस्त से, गुरूवार को अनुराधा से, शुक्रवार को उत्तराषाढ़ा से और शनिवार को शतभिषा से योगों को जाना चाहिये। अभिजित सहित वर्तमान नक्षत्र तक गिनकर जितनी संख्या हो उस दिन आनन्द से गिनने पर उतनी संख्या वाला योग होता है। उदाहरण स्वरूप यदि रविवार को धनिष्ठा नक्षत्र है तो कौन योग होगा ? ऐसे प्रश्न के उत्तर के लिये रविवार को अश्विनी से धनिष्ठा तक अभिजित् सहित गिनने पर 24 संख्या हुयी। अतः आनन्दादि से 24वां मातंग योग आया। इसी प्रकार सभी वारों में

समझना चाहिये।

किसी भी कार्य के आरम्भ में इन योगों का विचार करना चाहिये। शुभ योगों के होने पर उसमें आरम्भ शुभदायक तथा अशुभ योगों में कार्य का आरम्भ अशुभदायक होता है। अशुभ योगों में कार्यारम्भ आवश्यक हो तो उसके परिहार का विचार कर आवश्यक दुष्ट घड़ी का त्याग कर कार्यारम्भ किया जा सकता है जिसका विचार इस प्रकार है-

ध्वांक्षे वज्रे मुद्गरे चेषुनाड्ये वर्ज्या वेदाः पद्मलुम्बे गदे अश्वाः।
धूम्रे काणे मौसले भूर्द्वयं द्वे रक्षोमृत्यूत्पातकालाश्च सर्वे।।

अर्थात् 6 ध्वांक्ष, 9 वज्र और 10 मुद्गर योगों में आदि की पांच घटी, 14 पद्म और 15 लुम्ब योगों मे आदि की चार घटी, 23 गद योग में आदि की सात घटी, 3 धूम्र योग में आदि की 1 धटी, 18 काण योग में दो घटी , 22 मुशल में दो घटी, 25 राक्षस, 17 मृत्यु और 16 उत्पात एवं 2 काल योगों की समस्त घटिकायें शुभ कर्म में त्याज्य हैं।

इसके अलावा यह भी ज्ञतव्य है कि सूर्य जिस नक्षत्र पर हो, उस नक्षत्र से वर्तमान चन्द्र नक्षत्र चौथा, नवां, छठा, दसवां, तेरहवां, और बीसवॉ हो तो रवियोग होता है। यह उस काल के समस्त दोषों को नष्ट करने वाला बतलाया गया है। यथा-

सूर्यभाद्वेदगोतर्कदिग्विश्वनखसम्मिते ।
चन्द्रर्क्षे रवियोगाः स्युर्दोषसंघविनाशकाः।।

योग साधन -

रविन्दुयोगलिप्ताभ्योयोगाभ भोगभापिताः।
गतं गम्यं च षष्टिघ्नं भुक्तियोगाप्त नाडिका।।

सूर्य तथा चन्द्रमा के स्पष्ट स्थानों को जोड़कर उनकी कला बनाकर ८०० से भाग देने पर गत योगों की संख्या प्राप्त होती है। शेष से यह ज्ञात होता है कि वर्तमान योग की कितनी कला बीत गई। यदि शेष को ८०० कला में से घटा दिया जाये तो यह ज्ञात होगा कि वर्तमान योग की कितनी कला शेष है। गत तथा गम्य कला को ६० से गुणा करके सूर्य तथा चन्द्रमा की स्पष्ट दैनिक गतियों के योग से भाग देने पर यह ज्ञात होगा कि वर्तमान योग कितने पहले आरम्भ हुआ और कितना शेष है। अश्विनी के आरम्भ में सूर्य व चन्द्रमा दोनों मिलकर ८०० कला आगे चलने पर १ योग समाप्त होता है। १६०० कला पर दूसरा योग समाप्त होता है। इस तरह से ३६०० या २१६०० कला चलने पर २७ वाँ योग आता है।

करण परिचय एवं साधन –

एक तिथि में दो करण होते हैं। करण चर एवं स्थिर दो प्रकार के होते हैं। चर करण सात होते हैं जिन्हें बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, विष्टि के नाम से जाना जाता है। इनका प्रारम्भ शुक्ल प्रतिपदा के उत्तरार्द्ध से होता है। और एक मास में इनकी आठ आवृत्तियां होती हैं। शकुनी, चतुष्पद, नाग तथा किंस्तुघ्न ये चार स्थिर करण है। इनका प्रारम्भ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्द्ध से होता है। अर्थात् चतुर्दशी के उत्तरार्द्ध में शकुनी, अमावास्या के पूर्वार्ध में चतुष्पद, उत्तरार्ध में नाग तथा शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के पूर्वार्ध में किंस्तुघ्न करण सदा नियत रहते हैं। इनकी स्थिर संज्ञा है।

इसमें जहां - जहां विष्टि शब्द आया है, उससे उस तिथि के निर्दिष्ट भाग को भद्रा कहते हैं। जैसे शुक्ल पक्ष में चार, ग्यारह और कृष्णपक्ष में तीन, दश तिथियों के उत्तरार्ध में भद्रा रहती है। और शुक्लपक्ष में आठ, पन्द्रह कृष्णपक्ष में सात, चौदह तिथियों के पूर्वार्ध में भद्रा रहती है।

भद्रा के ज्ञान हेतु तिथियों का मान जानना आवश्यक है। जैसे दिया गया कि कृष्णपक्ष के उत्तरार्ध में भद्रा रहती है तो उत्तरार्ध का प्रारम्भ कब होगा? इसका सम्पूर्ण काल कितना रहेगा? इन सारी चींजों को जानना आवश्यक है, अन्यथा इसके अभाव में भद्रा का निर्धारण नही हो सकेगा। जैसे द्वितीया तिथि का घटी मान 14.4 दिया गया है। इस मान को 60.00 में से घटाने पर 45.56 शेष बचेगा। इस मान को तृतीया के घटी मान 12.31 में जोड़ने से तृतीया का भोग काल 58.27 हो जाता है। इस भोग काल का आधा 29.13.30 आयेगा। इस मान को द्वितीया के मान घटी 14.4 में जोड़ने पर तृतीया का उत्तरार्ध 43.17 के बाद प्रारम्भ होगा। उसी समय से भद्रा प्रारम्भ होकर तृतीया की समाप्ति पर्यन्त रहेगी। इसी प्रकार अन्य सभी भद्राओं को समझना चाहिये। अब आप करण का सामान्य परिचय जान गये होगें। आवश्यकतानुसार विष्टि करण का साधन भी आराम से कर सकते है।

ध्रुवाणि शकुनिर्नाग: तृतीयं तु चतुष्पदम्।
किंस्तुघ्नं च चतुर्दश्या: कृष्णाया अपरार्धत:।।
बवादीनि तथा सप्त चराख्यकरणानि तु।
मासेऽष्टकृत्व एकैकं करणं परिवर्तते।।
तिथ्यर्धभोगं सर्वेषां करणानां प्रचक्षते।
इत्थं स्पष्टगति: प्रोक्ता सूर्यादीनां खचारिणाम्।।

शकुनि, नाग, चतुष्पद व किंस्तुघ्न ये चार स्थिर करण कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होकर आधी-आधी तिथि में क्रम से चलते हैं। इसके बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, एवं विष्टि आदि सप्त चर करण कम से माह में आठ परिक्रमा करते हैं। एक करण आधी तिथि अर्थात् ६

अंश का भोग करता है। इस तरह से एक चान्द्रमास में ६० करण होते हैं। इनमें चार स्थिर और शेष ५६ चर करण है। पूरे मास में ७ चर करणों की ८ आवृत्ति होती है।

स्थिर करण - कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध में शकुनि, अमावस्या के पूर्वार्ध में चतुष्पद तथा उत्तरार्द्ध में नाग, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के पूर्वार्ध में किंस्तुघ्न आदि स्थिर करण होते हैं।

चर करण – शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के उत्तरार्द्ध से कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के पूर्वार्द्ध तक ५६ तिथ्यर्धों में क्रम से चर करणों की आवृति होती है।

प्रत्येक चान्द्रमास सम्बन्धित करणों के नाम –

तिथि	**शुक्लपक्ष (पूर्वार्द्ध)**	**शुक्लपक्ष (उत्तरार्द्ध)**	**तिथि**	**कृष्णपक्ष (पूर्वार्द्ध)**	**कृष्णपक्ष (उत्तरार्द्ध)**
१	किंस्तुघ्न	बव	१	बालव	कौलव
२	बालव	कौलव	२	तैतिल	गर
३	तैतिल	गर	३	वणिज	विष्टि
४	वणिज	विष्टि	४	बव	बालव
५	बव	बालव	५	कौलव	तैतिल
६	कौलव	तैतिल	६	गर	वणिज
७	गर	वणिज	७	विष्टि	बव
८	विष्टि	बव	८	बालव	कौलव
९	बालव	कौलव	९	तैतिल	गर
१०	तैतिल	गर	१०	वणिज	विष्टि
११	वणिज	विष्टि	११	बव	बालव
१२	बव	बालव	१२	कौलव	तैतिल
१३	कौलव	तैतिल	१३	गर	वणिज
१४	गर	वणिज	१४	विष्टि	शकुनि
१५	विष्टि	बव	१५	नाग	चतुष्पद

अभ्यास प्रश्न -1

1. निम्न में पंचांग का अंग नहीं हैं –

   क. वार ख. नक्षत्र ग. तिथि घ. अयन

2. तिथि श्रवण से होता है –

   क. अचल लक्ष्मी की प्राप्ति ख. आयुवृद्धि ग. पापशमन घ. मनोकामना पूर्ण

3. जया संज्ञक तिथियाँ हैं –

   क. ३,८,१३ ख. १,६,११ ग. २,७,१२ घ. ९,४,१४

4. एक तिथि में कितने करण होते हैं?

   क. १ ख. २ ग. ३ घ. ४

5. हस्त नक्षत्र का चरणाक्षर है?

   क. पू, ष, ण, ठ ख. पे, पो, रा, री ग. रू, रे, रो, तो घ. मा, मी, मू, मे

6. कृत्तिका नक्षत्र के स्वामी है –

   क. दस्रौ ख. यम ग. अनल घ. ब्रह्मा

7. एक चान्द्रमास में कुल कितने करण होते हैं ?

   क. ५० ख. ६० ग. ७० घ. ८०

8. 'भद्रा' के रूप में किस करण को जाना जाता है?

   क. बव ख. बालव ग. विष्टि घ. कौलव

3.4 तिथियों के शुभाशुभ स्वरूप

तिथि क्या है? इस पर विचार करते हुये आचार्यों ने कहा है एक-चन्द्रकलावृद्धिक्षयान्यतरावच्छिन्नः कालः तिथिः। अर्थात् चन्द्रमा के एक-एक कला वृद्धि के अवच्छिन्न काल को तिथि कहा जाता है। इसके बारे में वृहद् ज्ञान आप इससे पूर्व के प्रकरण में प्राप्त कर चुके हैं। तिथियों की संख्या पन्द्रह है जिनका नाम प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा या अमावास्या है। ये दोनो तिथियां शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष की है। इनके शुभ एवं अशुभ के बारे में यह वचन मिलता है-

नन्दा च भद्रा च जया च रिक्ता पूर्णेति तिथ्यो अशुभमध्यशस्ता।

सिते असिते शस्तसमाधमाः स्युः सितज्ञभौमार्किगुरौ च सिद्धा।। (मुहूर्त्तचिन्तामणिः -शुभाशुभप्रकरण- 4)

इस श्लोक के अनुसार तिथियों को पांच भागों में बांटा गया है जिन्हें नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता एवं पूर्णा के नाम से जाना जाता है। नन्दा में प्रतिपदा, षष्ठी एवं एकादशी तिथियां, भद्रा में द्वितीया, सप्तमी एवं द्वादशी तिथियां, जया में तृतीया, अष्टमी एवं त्रयोदशी तिथियां, रिक्ता में चतुर्थी, नवमी एवं चतुर्दशी तिथियां तथा पूर्णा में पंचमी, दशमी एवं अमावास्या या पूर्णिमा तिथियां आती है। प्रत्येक पक्ष में ये

नन्दादि तिथियां तीन बार आती है। उसी को व्यक्त करते हुये कहा गया है कि शुक्ल पक्ष में प्रथम नन्दा इत्यादि तिथियां अशुभ, द्वितीय नन्दा इत्यादि तिथियां मध्य एवं तृतीय नन्दा इत्यादि तिथियां शुभ होती है। उसी प्रकार कृष्ण पक्ष में प्रथम नन्दा इत्यादि तिथियां शुभ, द्वितीय नन्दा इत्यादि तिथियां मध्य एवं तृतीय नन्दा आदि तिथियां अशुभ होती है।

शुक्रवार को नन्दा तिथि यानी प्रतिपदा, षष्ठी एवं एकादशी, बुधवार को भद्रा यानी द्वितीया, सप्तमी एवं द्वादशी तिथि, भौमवार को जया यानी तृतीया, अष्टमी एवं त्रयोदशी तिथि, शनिवार को रिक्ता यानी चतुर्थी, नवमी एवं चतुर्दशी तिथि तथा गुरुवार को पंचमी, दशमी, अमावास्या या पूर्णिमा तिथि सिद्ध योग प्रदान करती है अर्थात् इसमें कार्य का आरम्भ कार्य को सिद्धि दिलाने वाला होता है।

चन्द्रमा के पूर्ण या क्षीण होने से तिथियों में बलत्व या निर्बलत्व होता है। शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा से पंचमी तक चन्द्रमा के क्षीण होने के कारण प्रथमावृति की नन्दा इत्यादि तिथियां अशुभ है। षष्ठी से दशमी तक चन्द्रमा के मध्य यानी न पूर्ण न क्षीण होने से द्वितीयावृति की नन्दा इत्यादि तिथियां मध्य मानी जाती है। ठीक इसी प्रकार तृतीयावृति की नन्दादि तिथियां चन्द्रमा के पूर्ण होने के कारण शुभ कही गयी है।

इसके अध्ययन से तिथियों की संज्ञा एवं शुभ एवं अशुभत्व का विचार आप सम्यक् तरीके से जान गये होगें। इस ज्ञान को पुष्ट करने के लिये नीचे प्रश्न दिया जा रहा है जो इस प्रकार है-

3.4.1 तिथियों एवं वारों के संयोग से शुभ एवं अशुभ विचार-

अब हम रवि इत्यादि वारों, तिथियों एवं नक्षत्रों के संयोग से शुभ एवं अशुभ कालों का विचार इस प्रकार करेगें। अधोलिखित श्लोक को ध्यान पूर्वक पढ़ना चाहिये।

नन्दा भद्रा नन्दिकाख्या जया च रिक्ता भद्रा चैवपूर्णा मृतार्कात्।

याम्यं त्वाष्ट्रं वैश्वदेवं धनिष्ठार्यम्णं ज्येष्ठान्त्यं रवेर्दग्धभं स्यात्।। मुहूर्त्तचिन्तामणिः

शुभाशुभप्रकरणम्- 5

अर्थात् सूर्य आदि वारों में क्रम से नन्दा, भद्रा, नन्दा, जया, रिक्ता, भद्रा और पूर्णा तिथियां पड़ जाये तो अधम योग होता है। इसका मतलब रविवार को नन्दा यानी प्रतिपदा, षष्ठी एवं एकादशी तिथियां हो, सोमवार को भद्रा यानी द्वितीया, सप्तमी एवं द्वादशी तिथियां हो, भौमवार को नन्दा यानी प्रतिपदा, षष्ठी एवं एकादशी तिथियां हो, बुधवार को जया यानी तृतीया, अष्टमी एवं त्रयोदशी तिथियां हों, गुरुवार को रिक्ता यानी चतुर्थी, नवमी एवं चतुर्दशी तिथियां हों, शुक्रवार को भद्रा यानी द्वितीया, सप्तमी एवं द्वादशी तिथियां हो और शनिवार को पूर्णा यानी पंचमी, दशमी एवं अमावास्या या पूर्णिमा तिथियां आती हो तो मृत योग बन जाता है।

इसी प्रकार सूर्यादि वारों में क्रमशः भरणी आदि नक्षत्र हो अर्थात् रविवार को भरणी, सोमवार को

चित्रा, मंगलवार को उत्तराषाढ़ा, बुधवार को धनिष्ठा, बृहस्पतिवार को उत्तराफाल्गुनि, शुक्रवार को ज्येष्ठा और शनिवार को रेवती आ जाय तो दग्ध योग होता है। ये दोनों मृत्यु योग एवं दग्ध योग यात्रा में अत्यन्त निन्दित है। अन्य शुभ कार्य भी इनमें न किये जाय तो उत्तम होता है।

तिथियों और वारों से संबंधित शुभाशुभत्व पर विचार करते हुये ग्रन्थकार ने एक विचार और दिया है जिसका वर्णन मै यहां अत्यन्त उचित समझता हूँ जो इस प्रकार है।

षष्ठ्यादितिथयो मन्दाद्विलोमं प्रतिपद् बुधे।
सप्तम्यर्के धमाः षष्ठ्याद्यामाश्च रदधावने।।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुये बतलाया गया है कि षष्ठी आदि क्रम से तिथियों और शनि आदि उलटे वारों के योग से क्रकच नामक अधम योग होता है। जैसे शनिवार को षष्ठी, शुक्रवार को सप्तमी, गुरुवार को अष्टमी, बुधवार को नवमी, भौमवार को दशमी, सोमवार को एकादशी और रविवार को द्वादशी हो जाय तो क्रकच नाम का कुयोग होता है। यह कुयोग दिन एवं तिथि के संयोग से तेरह बनने के कारण हो रहा है। जैसे शनिवार का मतलब सात एवं षष्ठी तिथि का मतलब छ, दोनों को जोड़ने से तेरह हो रहा है जिसके कारण क्रकच नामक योग बन रहा है। एक और उदाहरण समझ लेने से यह बात पूरी तरह दिमाग में बैठ जायेगी जैसे भौमवार और दशमी, इसमें भौमवार की संख्या तीन है, दशमी की दश संख्या को इसमें जोड़ने से तेरह हो रहा है जिसके कारण यह योग लग रहा है।

इसके साथ ही ज्यौतिष शास्त्र में यह बतलाया गया है कि बुधवार को प्रतिपदा तथा रविवार को सप्तमी हो तो संवर्तक नाम का कुयोग होता है। इसे शुभ नही माना गया है। इसके अलावा दग्धादि योगों की चर्चा करते हुये बतलाया गया है कि-

सूर्येशपंचाग्निरसाष्टनन्दा वेदांगसप्ताश्विगजांकशैलाः।
सूर्यांगसप्तोरगगोदिगीशा दग्धा विषाख्याश्च हुताशनश्च।
सूर्यादिवारे तिथयोभवन्ति मघाविशाखाशिवमूलवन्हिः।
ब्राह्मं करोर्काद्यमघण्टकाश्च शुभे विवजर्या गमने त्ववश्यम्।।

अर्थात् रविवार को द्वादशी, सोमवार को एकादशी, मंगलवार को पंचमी, बुधवार को तृतीया, बृहस्पतिवार को षष्ठी, शुक्रवार को अष्टमी एवं शनिवार को नवमी पड़ जाय तो दग्ध योग होता है।

रविवार को चतुर्थी, सोमवार को षष्ठी, मंगलवार को सप्तमी, बुधवार को द्वितीया, बृहस्पतिवार को अष्टमी, शुक्रवार को नवमी एवं शनिवार को सप्तमी पड़ जाय तो विष नामक योग होता है।

रविवार को द्वादशी, सोमवार को षष्ठी, मंगलवार को सप्तमी, बुधवार को अष्टमी, बृहस्पतिवार को नवमी, शुक्रवार को दशमी एवं शनिवार को एकादशी पड़ जाय तो हुताशन योग होता है।

रविवार को मघा, सोमवार को विशाखा, मंगलवार को आर्द्रा, बुधवार को मूल, बृहस्पतिवार को कृत्तिका, शुक्रवार को रोहिणी एवं शनिवार को हस्त नक्षत्र आ जाय तो यमघण्ट नामक योग होता है। उक्त चारों योग समस्त शुभ कार्यों में वर्जित बतलाये गये है। विशेष कर यात्रा में तो अवश्य ही त्याज्य है।

इसमें आपने तिथियों, वारों एवं नक्षत्रों के संयोग से अशुभ योगों के बारे में जाना। इसको छोड़कर अन्यत्र शुभ होता है। अतः इस पर कुछ प्रश्न दिये जा रहे हैं जिसका हल आपके ज्ञान को अभिवर्द्धित करेगा।

3.4.2 तिथियों एवं नक्षत्रों के संयोग से शुभ एवं अशुभ का विचार

तिथियों एवं नक्षत्रों के मिलन शुभ एवं अशुभ का विचार हम इस प्रकार करते है-

तथा निन्द्यं शुभे सार्पं द्वादश्यां वैश्वमादिमे।
अनुराधा तृतीयायां पंचम्यां पित्र्यभं तथा।
त्र्युत्तराश्च तृतीयायामेकादश्यां च रोहिणी।
स्वाती चित्रे त्र्योदश्यां सप्तम्यां हस्तराक्षसे।
नवम्यां कृतिकाष्टाम्यां पूभा षष्ठ्यां च रोहिणी।।

इसका अर्थ करते हुये बतलाया गया है कि द्वादशी तिथि में आश्लेषा, प्रतिपदा तिथि में उत्तराषाढ़ा, द्वितीया तिथि में अनुराधा, पंचमी मे मघा, तृतीया में तीनों उत्तरा यानी उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, एकादशी में रोहिणी, त्रयोदशी में स्वाती और चित्रा, सप्तमी में हस्त एवं मूल, नवमी में कृत्तिका, अष्टमी में पूर्वाभाद्रपदा और षष्ठी में रोहिणी पड़े तो निन्द्य योग होता है। इनमें शुभ कार्य करना वर्जित माना गया है।

नक्षत्रों का मासों से संबंध करके भी शुभ एवं अशुभ का विचार किया गया है-

कदास्रभे त्वाष्ट्रवायू विश्वेज्यौ भगवासवौ।
वैश्वस्रुति पाशिपौष्णे अजपादग्निपित्र्यभे।।
चित्राद्वीशौ शिवाश्व्यर्काः श्रुतिमूले यमेन्द्रभे।
चैत्रादिमासे शून्याख्यास्तारा वित्तविनाशदाः।।

इसका अर्थ करते हुये बतलाया गया है कि चैत्रमास में रोहिणी एवं अश्विनी नक्षत्र, वैशाख मास में चित्रा एवं स्वाती नक्षत्र, ज्येष्ठ मास में उत्तराषाढ़ा एवं पुष्य नक्षत्र, आषाढ़ में पूर्वाफाल्गुनि एवं धनिष्ठा नक्षत्र, श्रावण में उत्तराषाढ़ा एवं श्रवण नक्षत्र, भाद्रपद में शतभिषा एवं रेवती नक्षत्र, आश्विन में पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र, कार्तिक में कृत्तिका एवं मघा नक्षत्र, मार्गशीर्ष में चित्रा एवं विशाखा नक्षत्र, पौष में आर्द्रा एवं अश्विनी नक्षत्र, माघ मे श्रवण एवं मूल नक्षत्र, फाल्गुन में भरणी एवं ज्येष्ठा नक्षत्र मास

शून्य नक्षत्र कहे गये हैं। इनमें शुभ कार्य करने से कर्ता के धन का नाश होता है। इसी प्रकार राशियों के शून्यता का भी वर्णन मिलता है। यथा-

घटो झषो गौर्मिथुनं मेषकन्यालितौलिनः।

धनुः ककों मृगः सिंहश्चैत्रादौ शून्यराशयः।।

अर्थात् चैत्र मास में कुम्भ, वैशाख में मीन, ज्येष्ठ में वृष, आषाढ़ में मिथुन, श्रावण में मेष, भाद्रपद में कन्या, आश्विन में वृश्चिक्, कार्तिक में तुला, मार्गशीर्ष में धनु, पौष में कर्क, माघ में मकर और फाल्गुन में सिंह ये राशियां शून्य मानी गयी है। इनमें शुभ कार्य करने से कर्ता के वंश और धन दोनों का विनाश होता है।

इसी प्रकार पंचांग में तिथियों एवं लग्नों के संयोग से भी शुभ एवं अशुभ का विचार इस प्रकार किया गया है-

पक्षादितस्त्वोजतिथौ घटैणौ मृगेन्द्रनक्रौ मिथुनांगने च।

चापेन्दुभे कर्कहरी हयान्त्यौ गोन्त्यौ च नेष्टे तिथिशून्यलग्ने।।

शुक्ल एवं कृष्ण दोनों पक्षों में प्रतिपदा से लेकर विषम तिथियों में क्रम से प्रतिपदा में तुला एवं मकर, तृतीया में सिंह और मकर, पंचमी में मिथुन और कन्या, सप्तमी में धनु एवं कर्क, नवमी में कर्क और सिंह, एकादशी में धनु और मीन, त्रयोदशी में वृष और मीन शून्य लग्न है। इनमें कोई शुभकार्य करना उचित नही है।

3.4.3 तिथि, वार एवं नक्षत्रादि योगों द्वारा शुभ एवं अशुभ का विचार

इसमें तिथि, वारों एवं नक्षत्रों तीनों का संयोग पाया जाता है। इन तीनों के संयोगो के आधार पर अशुभ एवं शुभ फलों का विचार करते है-

वर्जयेत् सर्वकार्येषु हस्तार्कं पंचमी तिथौ।

भौमाश्विनीं च सप्तम्यां षष्ठ्यां चन्द्रैन्दवं तथा।

बुधानुराधामष्टम्यां दशम्यां भृगुरेवतीम्।

नवम्यां गुरुपुष्यं चैकादशम्यां शनिरोहिणीम्।।

इसके अर्थ का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि पंचमी तिथि में रविवार और हस्त नक्षत्र हो, सप्तमी तिथि में भौमवार और अश्विनी नक्षत्र हो, षष्ठी में सोमवार एवं मृगशिरा नक्षत्र हो, अष्टमी में बुधवार और अनुराधा नक्षत्र हो, दशमी में शुक्रवार एवं रेवती नक्षत्र हो, नवमी में गुरुवार एवं पुष्य नक्षत्र हो और एकादशी में शनिवार एवं रोहिणी नक्षत्र हो तो इन्हें समस्त शुभ कार्यो में त्याग कर देना चाहिये।

यद्यपि यहाँ नक्षत्र एवं वार के योग से शुभ योग होते है, तथापि तिथियों के योग से निषिद्ध योग हो जाता है। इसी को 'मधुसर्पिष योग' भी कहते है। महर्षि वसिष्ठ ने दूसरे प्रकार का मधु सर्पिष् योग कहा है जिसको 'हालाहल योग' भी कहा गया है।

नक्षत्रों एवं वारों के योग से कुछ विशिष्ट कार्यों को करने के लिये विवर्जित किया गया है जो इस प्रकार है-

गृहप्रवेशे यात्रायां विवाहे च यथाक्रमम्।
भौमाश्विनीं शनौ ब्राह्मं गुरौ पुष्यं विवर्जयेत्।

यहाँ पर जिन योगों की चर्चा की गयी हैं वे योग सिद्ध योग बनाते है लेकिन कुछ विशेष कार्य हेतु इन योगों को वर्जित किया गया है। गृह प्रवेश में भौमवार एवं अश्विनी नक्षत्र का संयोग त्याग देना चाहिये। यात्रा में शनिवार एवं रोहिणी नक्षत्र के संयोग को त्याग देना चाहिये। विवाह में गुरुवार एवं पुष्य नक्षत्र के संयोग को त्याग देना चाहिये।

विशेष- भौमाश्विनी, शनिरोहिणी और गुरुपुष्य ये तीनो सिद्धि है। तथापि गृहप्रवेश में भौमवार निषिद्ध है, अश्विनी नक्षत्र भी विहित नही है। अतः सिद्ध योग होते हुये भी गृहप्रवेश में त्याज्य है। वसिष्ठ एवं राजमार्तण्ड के अनुसार यात्रा में शनिवार निन्द्य माना गया है। अतः रोहिणी के योग से सिद्ध योग होते हुये भी यात्रा में त्याज्य है। गुरुपुष्य योग कामुकता का वर्धक होने से विवाह में निषिद्ध माना गया है।

सभी प्रकार के कार्यों में अधोलिखित योगों को त्याज्य माना है-

जन्मर्क्षमासतिथयोव्यतिपातभद्रा वैधृत्यमापितृदिनानितिथिक्षयर्द्धी।
न्यूनाधिमासकुलिकप्रहरार्द्धपातविष्कम्भवज्रघटिकात्रयमेववर्ज्यम्।
परिधार्द्धं पंच शूले षट् च गण्डातिगण्डयोः
व्याघाते नवनाड्यश्च वर्ज्याः सर्वेषु कर्मसु।।

अर्थात् जन्म नक्षत्र, जन्म मास, जन्म तिथि, व्यतिपात, भद्रा, वैधृति, अमावास्या, पितृ घात दिन, तिथि का क्षय दिन, तिथि वृद्धि वाला दिन, न्यून मास, अधिक मास, कुलिक योग, अर्द्धयाम, पात, विष्कम्भ योग और वज्र योग की तीन घटी, परिघ योग का आधा, शूलयोग की पॉच घटी, गण्ड एवं अतिगण्ड योग की छः छः घटी एवं व्याघात योग की नव घटी सभी प्रकार के शुभ कार्यों हेतु वर्जित की गयी है।

विशेष- जन्म नक्षत्र एवं जन्म मास उपनयन में शुभ होता है।

दूसरे दूसरे गर्भ से उत्पन्न बालक बालिकाओं का विवाह उत्तम है।

नारद संहिता के अनुसार पट्टबन्धन, मुण्डन, अन्नप्राशन, व्रतबन्ध इन कार्यों में जन्मर्क्ष शुभ माना गया

है। बहुत से कार्यो में जन्म की तारा शुभ कही गयी है।

इस प्रकार आपने तिथियों, वारों, मासों, लग्नों एवं नक्षत्रों के संयोग से शुभ एवं अशुभ योगों के बारे में जाना। इसको छोड़कर अन्यत्र शुभ होता है। अतः इस पर कुछ प्रश्न दिये जा रहे हैं जिसका हल आपके ज्ञान को अभिवर्द्धित करेगा।

शुभाशुभ योगों का विशेष विचार-

इस प्रकरण में पंचांग के अनुसार शुभ अशुभ फलों के विशेष विचार किये जायेगें। इसका ज्ञान शुभ अशुभ फलों के जानने हेतु अतयावश्यक बतलाया गया है।

3.4.4 वार एवं नक्षत्र के संयोग से सर्वार्थ सिद्धि योग का विचार-

सर्वाथसिद्धि योग एक ऐसा योग है जिसमें कार्य करने से सभी प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। आइये विचार करें कि सर्वार्थ सिद्धि योग कैसे बनता है। इस सन्दर्भ में अधोलिखित श्लोक मिलता है-

सूर्येर्कमूलोत्तरपुष्यदास्रं चन्द्रे श्रुतिब्राह्मशशीज्यमैत्रम्।
भौमेश्व्यहिर्बुध्न्यकृशानुसार्पं ज्ञे ब्राह्ममैत्रार्ककृशानुचान्द्रम्।
जीवेन्त्यमैत्राश्व्यदितिज्यधिष्ण्यं शुक्रेन्त्यमैत्राश्व्यदितिश्रवोभम्।
शनौ श्रुतिब्राह्मसमीरभानि सर्वार्थसिद्ध्यै कथितानि पूर्वैः।

इसका अर्थ करते हुये बतलाया गया है कि रविवार को अर्क यानी हस्त नक्षत्र, मूल नक्षत्र, उत्तर यानी उत्तराफाल्गुनि, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, पुष्य और अश्विनी ये सात नक्षत्र हो तो सर्वार्थ सिद्धि योग होता है।

सोमवार को श्रुति यानी श्रवण, ब्राह्म यानी रोहिणी, शशी यानी मृगशिरा, इज्य यानी पुष्य, और मैत्र यानी अनुराधा ये पॉच नक्षत्र हो तो सर्वार्थ सिद्धि योग होता है।

मंगलवार को अश्व यानी अश्विनी, अहिर्बुध्न्य यानी उत्तराभाद्रपदा, कृशानु यानी कृत्तिका तथा सार्प यानी आश्लेषा ये चार नक्षत्र मिल जाय तो सर्वार्थ सिद्धि योग होता है।

बुधवार को ब्राह्म यानी रोहिणी, मैत्र यानी अनुराधा, अर्क यानी हस्त, कृशानु अर्थात् कृत्तिका, और चान्द्रं यानी मृगशिरा ये पॉच नक्षत्र हो तो सर्वार्थ सिद्धि योग बनता है।

बृहस्पतिवार को अन्त्य यानी रेवती, मैत्र यानी अनुराधा, अश्व यानी अश्विनी, अदिति यानी पुनर्वसु, इज्य यानी पुष्य, धिष्ण्य यानी नक्षत्र हो तो सर्वार्थ सिद्धि योग होता है।

शुक्रवार को अन्त्य यानी रेवती, मैत्र यानी अनुराधा, अश्व अर्थात् अश्विनी, अदिति यानी पुनर्वसु, और श्रव यानी श्रवण नक्षत्र हो तो सर्वार्थ सिद्धि योग बनता है।

शनिवार को श्रुति यानी श्रवण, ब्राह्म यानी रोहिणी, समीर यानी स्वाती, भानि अर्थात् नक्षत्राणि

अर्थात् ये नक्षत्र पाये जाते हों तो उस दिन सर्वार्थ सिद्धि योग बन रहा है ऐसा कहा जा सकता है।

इसी प्रकार उत्पात, मृत्यु, काण एवं सिद्ध योग का विचार इस प्रकार किया गया है-

द्वीशात्तोयाद्वासवात्पौष्णभाच्च ब्राह्मात्पुष्यादर्यमर्क्षाद्युगर्क्षैः।

स्यादुत्पातो मृत्यु काणौ च सिद्धिर्वारिर्काद्ये तत्फलं नामतुल्यम्।

इसका अर्थ करते हुये बतलाया गया है कि अर्काद्ये यानी सूर्यवार को विशाखा नक्षत्र से चार - चार नक्षत्र क्रमशः उत्पात, मृत्यु , काण एवं सिद्ध योग को देने वाले कहे गये है। यानी रविवार को विशाखा नक्षत्र हो तो उत्पात योग, अनुराधा नक्षत्र हो तो मृत्यु योग, ज्येष्ठा नक्षत्र हो तो काण योग एवं मूल नक्षत्र हो तो सिद्ध योग बनता है। ये अपने नाम के अनुसार व्यक्ति को फल प्रदान करते हैं।

सोमवार को तृतीया यानी पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र से चार-चार नक्षत्र क्रमशः उत्पात, मृत्यु , काण एवं सिद्ध योग को देने वाले कहे गये है। यानी सोमवार को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र हो तो उत्पात योग, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र हो तो मृत्यु योग, अभिजित् नक्षत्र हो तो काण योग एवं श्रवण नक्षत्र हो तो सिद्ध योग बनता है। ये अपने नाम के अनुसार व्यक्ति को फल प्रदान करते है।

मंगलवार को धनिष्ठा नक्षत्र से चार-चार नक्षत्र क्रमशः उत्पात, मृत्यु , काण एवं सिद्ध योग को देने वाले कहे गये हैं। यानी मंगलवार को धनिष्ठा नक्षत्र हो तो उत्पात योग, शतभिषा नक्षत्र हो तो मृत्यु योग, पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र हो तो काण योग एवं उत्तराभाद्रपद नक्षत्र हो तो सिद्ध योग बनता है। ये अपने नाम के अनुसार व्यक्ति को फल प्रदान करते है।

बुधवार को रेवती नक्षत्र से चार-चार नक्षत्र क्रमशः उत्पात, मृत्यु , काण एवं सिद्ध योग को देने वाले कहे गये हैं। यानी बुधवार को रेवती नक्षत्र हो तो उत्पात योग, अश्विनी नक्षत्र हो तो मृत्यु योग, भरणी नक्षत्र हो तो काण योग एवं कृत्तिका नक्षत्र हो तो सिद्ध योग बनता है। ये अपने नाम के अनुसार व्यक्ति को फल प्रदान करते है।

वृहस्पतिवार को रोहिणी नक्षत्र से चार- चार नक्षत्र क्रमशः उत्पात, मृत्यु , काण एवं सिद्ध योग को देने वाले कहे गये है। यानी गुरुवार को रोहिणी नक्षत्र हो तो उत्पात योग, मृगशिरा नक्षत्र हो तो मृत्यु योग, आर्द्रा नक्षत्र हो तो काण योग एवं पुनर्वसु नक्षत्र हो तो सिद्ध योग बनता है। ये अपने नाम के अनुसार व्यक्ति को फल प्रदान करते है।

शुक्रवार को पुष्य नक्षत्र से चार-चार नक्षत्र क्रमशः उत्पात, मृत्यु , काण एवं सिद्ध योग को देने वाले कहे गये है। यानी शुक्रवार को पुष्य नक्षत्र हो तो उत्पात योग, आश्लेषा नक्षत्र हो तो मृत्यु योग, मघा नक्षत्र हो तो काण योग एवं पूर्वा फाल्गुनि नक्षत्र हो तो सिद्ध योग बनता है। ये अपने नाम के अनुसार व्यक्ति को फल प्रदान करते हैं।

शनिवार को उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र से चार- चार नक्षत्र क्रमशः उत्पात, मृत्यु , काण एवं सिद्ध योग को देने वाले कहे गये है। यानी शनिवार को उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र हो तो उत्पात योग, हस्त नक्षत्र हो तो मृत्यु योग, चित्रा नक्षत्र हो तो काण योग एवं स्वाती नक्षत्र हो तो सिद्ध योग बनता है। ये अपने नाम के अनुसार व्यक्ति को फल प्रदान करते है।

अभ्यास प्रश्न – 2

1. शनिवार को स्वाती नक्षत्र हो तो ..... योग बनता है।
2. रविवार के दिन नन्दा संज्ञक तिथि हो तो ..... योग उत्पन्न होता है।
3. बुधवार को धनिष्ठा संज्ञक नक्षत्र हो तो ..... योग बनता है।
4. शुक्रवार को सप्तमी तिथि का योग हो तो ..... योग बनता है।
5. रविवार को चतुर्थी तिथि हो तो ..... योग बनता है।

3.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि पंचांग ज्योतिषशास्त्र का आधारभूत तत्व है। 'पंचांग' कालपुरुष के पाँच अंग – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण के विस्तृत विवरण को कहते है। संस्कृत में पंचांग को इस प्रकार परिभाषित करते हैं- पंचानां अंगानां समाहार: इति पंचांगम्। ज्योतिष शास्त्र के समस्त सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन हो जाने पर भी प्रायोगिक स्थल में जिसके बिना एक ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता भी अभाव का अनुभव करता है, उसका नाम है – पंचांग। आकाश मण्डल में सूर्य-चन्द्रमा के संचार को पंचांग की संज्ञा दी गयी है। प्रलयोपरान्त जब सूर्य का दर्शन होता है तब सृष्टि की रचना आरम्भ होती है। उसी समय से दिन, होरा, वार आदि की गणना होने लगती है। पंचांग द्वारा ही सामाजिक जीवन के सभी प्रकार के मांगलिक कार्यों हेतु शुद्ध तथा पवित्र समय का निर्धारण किया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक कार्य शुभ समय में पूर्ण एवं सम्पादित हो सकें।

पंचांग को हम आधुनिक भाषा में कहे तो वह एक ज्योतिषी का संगणक (कम्प्यूटर) है। जिस में बारह महीनों अर्थात् पूरे वर्ष का समस्त सूक्ष्म से विशाल तक का लेखा-जोखा अंकित रहता है। यही कारण है कि ज्योतिषशास्त्र के अध्येता को सर्वप्रथम पंचांग देखना सिखाया जाता है। पंचांग की परिभाषा में तो पाँच अंगों (तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण) की चर्चा है। किन्तु विदित हो कि पंचांग का क्षेत्र व्यापक है, विशाल है। इससे देखने वाले के सामने समस्त आकाशीय नक्षत्र मण्डल 'करगत फल आमलक समाना' हाथों में स्थित आँवले के फल जैसा सूक्ष्म रूप धारण कर दिखाई देने लगता है। पंचांग के प्रमुख अंगों के आधार पर ही शुभ समय निश्चित किया जाता है। इन पाँचों के

परिचय और इन्हीं पाँचों के आपस में मिलाने से अनेक शुभ अथवा अशुभ फल देने वाले समय का ज्ञान प्राप्त होता है। उनका ज्ञान रखना परमावश्यक है। इन पाँचों अंगों के संयोग से उत्पन्न होने वाली शुभ फलदायी काल को ही मुहूर्त्त कहा जाता है। मुहूर्त्तो में भी शुभ मुहूर्त्त का निर्धारण जातक का पिण्ड के आधार पर किया जाता है। यही संहिता शास्त्र के अन्तर्गत पंचांग कहलाता है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

पंचांग – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण रूपी पाँच अंगों के समाहार को पंचांग कहते है।

तिथि – सूर्य एवं चन्द्रमा के द्वादश अंशात्मक गत्यन्तर को तिथि कहते है।

वार – रव्यादित: शनिवार पर्यन्त सप्त वार होते हैं।

भगण – १२ राशियों का एक भगण होता है।

नक्षत्र – न क्षरतीति नक्षत्रम्। अश्विनी से रेवती पर्यन्त २७ नक्षत्र होते हैं।

योग – सूर्य एवं चन्द्र के योग से योगों की उत्पत्ति होती है। आनन्दादि एवं विष्कुम्भादि दो प्रकार के योग होते हैं।

करण – एक तिथि में दो करण होते हैं।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 का उत्तर

1. घ
2. क
3. क
4. ख
5. क
6. ग
7. ख
8. ग

अभ्यास प्रश्न -2 का उत्तर

1. सिद्ध
2. अधम
3. दग्ध
4. क्रकच
5. विष

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय ज्योतिष – श्री शंकरबालकृष्णदीक्षित
2. आधुनिक पंचांग दर्शन – प्रोफेसर भास्कर शर्मा
3. संवत्सरावली – टीका – पण्डित हीरालाल मिश्र:
4. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
5. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

3.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. भारतीय ज्योतिष - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री
2. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा
3. पंचांग समिति का प्रतिवेदन – पंडित दीनानाथ शास्त्री चुलैट
4. वैजयन्ती पंचांग गणितम् – डॉ0 भास्कर शर्मा
5. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पंचांग का परिचय देते हुए उनके अंगों का वर्णन कीजिये।
2. तिथि से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।
3. वार एवं नक्षत्रों का विस्तृत उल्लेख कीजिये।
4. करण को परिभाषित करते हुए उसका साधन कीजिये।
5. पंचांग के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालें।

इकाई - 4 दृक्सिद्ध पंचांग का महत्व

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 दृक्सिद्ध पंचांग का परिचय एवं महत्व

4.3.1 पचांग के दृश्य तथा अदृश्य पक्ष

4.3.2 दृक्प्रत्ययद् पंचांग

4.4 सायन पंचांग

4.5 सारांश

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.9 सहायक पाठ्यसामग्री

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई -503 के प्रथम खण्ड की चतुर्थ इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – दृक्सिद्ध पंचांग का महत्व। इसके पूर्व की इकाईयों में आपने पंचांग के स्वरूप, संक्षिप्त इतिहास व परम्परा, पंचांग के अंग एवं सिद्धान्तों का अध्ययन कर लिया है। अब आप इस इकाई में दृक्सिद्ध पंचांग के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

दृक्सिद्ध का सामान्य अर्थ है – चाक्षुषदृष्ट्या एवं वेधोपलब्ध जब समान हो तभी वह दृक्सिद्ध होता है। पंचांगों में इस स्वरूप का अधिक महत्व बतलाया गया है।

आइए हम उन पंचांग के दृक्सिद्ध स्वरूप के बारे में विस्तृत अध्ययन करते है तथा उसके विभिन्न आयामों को भी जानने का प्रयास करते है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- दृक्सिद्ध पंचांग के बारे में जान लेंगे।
- दृक्सिद्ध पंचांग की परम्परा को समझ लेंगे।
- दृक्सिद्ध पंचांग के महत्व को समझा सकेंगे।
- दृक्सिद्ध पंचांग के आनयन को व्यक्त कर सकेंगे।
- पंचाग निर्माण की परम्परा में दृक्सिद्ध के योगदान को बता सकेंगे।

4.3 दृक्सिद्ध पंचांग का परिचय

सम्प्रति भारतवर्ष में पंचांग निर्माण मुख्यत: दो विधियों द्वारा किया जा रहा है- उनमें एक दृश्य विधान है, तो दूसरा अदृश्य विधान। दृक्सिद्ध पंचांग का सम्बन्ध दृश्य विधान से है। आज कतिपय आचार्य अपनी पारम्परिक पद्धति (सारिणी द्वारा) के अनुसार ही पंचांग का निर्माण करते हैं तथा कुछ विद्वान आधुनिकतम विधियों के अनुसार साधित ग्रहों के आधार पर पंचांग बनाना चाहते हैं। आधुनिक पद्धति को 'दृश्य गणित' कहते हैं तथा इस पद्धति से निर्मित पंचांग को 'दृश्य पंचांग' कहते हैं। जितने भी दृश्य कार्य हैं उनका साधन दृश्य पद्धति से ही होना चाहिए तभी गणितागत एवं वेधोपलब्ध परिणामों में साम्य हो सकेगा अन्यथा नहीं।

दृक्सिद्ध क्या है? इसे समझने के लिए सर्वप्रथम गणितागत ग्रहों एवं वेध द्वारा साधित ग्रहों को जानना होगा। गणितागत ग्रह से तात्पर्य अहर्गणोत्पन्न मध्यम ग्रह में मन्दफल, शीघ्रफलादि स्पष्ट

संस्कारजन्य स्पष्टग्रह से है, जिसे **'दृक्तुल्य'** भी कहा जाता है। तथा वेध द्वारा साधित ग्रह से तात्पर्य वेधयन्त्र द्वारा साधित ग्रह से हैं।

यदा गणितागत ग्रह वेधयन्त्र द्वारा साधित ग्रह के साम्य होता है, तो उसे **दृक्सिद्ध** कहते हैं। दृग्गणितैक्य का स्वरूप प्रासांगिक है। नेत्रों द्वारा आकाशस्थ ग्रहों को वेधकर गणितीय विधान से एकरूपता देने की पद्धति को 'दृग्गणित' कहते है। इसका महत्व प्राचीनकाल से ही सम्प्रत्यावत् विद्यमान है। पौरूष सिद्धान्त के आविष्कारक आचार्य आर्यभट्ट से लेकर विद्यावाचस्पति मुरलीधर ठाकुर पर्यन्त सभी आचार्यों ने दृग्गणित सिद्धान्त के महत्व को स्वीकृत् किया है। वेध द्वारा सिद्ध पृष्ठीय सायन और पृष्ठीय वेधोपलब्धग्रह से गर्भीयसाधन करने की पद्धति का सूक्ष्म विवेचन ही दृक्सिद्ध का वास्तविक पक्ष होता है। गर्भीय ग्रह निरयन होता है। भारतीय पद्धति मूलत: इसी को ग्रहण करता है।

आचार्य भास्कराचार्य जी ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि के स्पष्टाधिकार में स्पष्टग्रहों के दृग्गणित सिद्धान्त के महत्व को इस प्रकार निरूपित किया है –

यात्राविवाहोत्सवजातकादौ खेटै: स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।
स्यात्प्रोच्यते तेन नभश्चराणां स्फटक्रिया दृग्गणितैक्य कृद्या।।

प्रस्तुत श्लोक में भी दृग्गणित के महत्व को स्वीकार किया गया है। यात्रा, विवाह विभिन्न उत्सवों एवं जातक शास्त्र में स्पष्ट ग्रह के द्वारा ही प्रभाव का स्फुटत्व का सम्बन्ध माना है। दृग्गणित सिद्ध गर्भीय क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्रायिकग्रह स्पष्टाधिकारान्त गणित से आता है। त्रिप्रश्नादि उदयास्ताधिकारान्त विभिन्न पृष्ठीय संस्कारों से ये स्थानाभिप्रायिक ग्रह दृश्य होते हैं। अत: स्थानाभिप्रायिक गणित से लाये ग्रह एक प्रकार का दृग्गणित है। इससे ग्रह बिम्ब का दर्शन नहीं होता। यदि गणित के द्वारा लाये ग्रह में उदयास्तान्त समस्त संस्कार किये जाये, तभी बिम्बीय ग्रह दृश्य होता है। यदि दृश्य नहीं हो सके तथा जितनें अन्तर से दृश्य हो, उतना कालान्तर जन्य अन्तर समझना चाहिए। **अत: इस प्रकार यदि ग्रह समान हो तो 'दृक्सिद्ध' कहलाता है, अन्यथा नहीं।**

विदित हो कि सर्वत्र दृग्गणित के अनुसार ग्रहों का स्पष्टीकरण का विधान स्पष्टाधिकार में निरूपित किया गया है, परन्तु स्पष्टाधिकार में साधित स्पष्ट ग्रह का जो साधन किया गया है, वह दृग्ग्रह नहीं होता।

सायन पृष्ठीय और सायन गर्भीय दो प्रकार सायन सम्बन्ध भी गोल में निहित है। सायन पृष्ठीय के ही वेध गोलीय का महत्व है न कि अन्यों का। नक्षत्रों को भू सापेक्ष अचलत्व होने से हजारों वर्षों में भी नक्षत्रों का चलत्व भाव नहीं होता। उनकी अपनी गति से ही नक्षत्र पुंज की आकृति लाखों वर्षों में

किंचित् परिवर्तित होते हैं। फलस्वरूप में नक्षत्रों के कदम्बाभिमुख भोगों का अन्तर दीर्घकाल में होने से, उनसे उत्पन्न प्रभाव भी परिवर्तित होते है। इसलिए निरयण नक्षत्र स्वरूप का वर्णन है। यहाँ पर सौर गोल के तथा गोलीय क्षेत्रों के साम्पातिक होने से सौरमण्डल को सायन के रूप में माना जाता है। वहाँ भोग की दृष्टि से निरयन पृष्ठीय तथा निरयन गर्भीय, ये दोनों पक्ष नक्षत्रों से सम्बन्धित होने से निरयन सम्बद्ध कहा गया है। उन दोनों का संयुक्त समन्वित स्वरूप भारतीय पद्धति से सम्भव है, जहाँ स्थानाभिप्रायिक, बिम्बाभिप्रायिक ग्रह का निरयण तथा गर्भीय एवं पृष्ठीय भेद के साथ सायन रूप भी बनते हैं।

कालान्तर से ही ग्रहचार में भी महद् अन्तर देखा जाता है। अपनें निर्माण काल में सभी पद्धति सूक्ष्म होती है। विभिन्न परिवर्तन कालान्तर के द्वारा होता है। कक्षावृद्धि, कक्षाह्रास, फल की वृद्धि तथा ह्रास और ग्रहकक्षा का मार्गान्तर, कक्षा का संकुचन और प्रसारण, गुरूत्वाकर्षण और विकर्षण निष्पत्ति से प्रत्येक क्षण होने वाले परिवर्तन, ग्रह की दूरी तथा समीपता में परिवर्तन, कोणान्तर निष्पत्ति में परिवर्तन, शीघ्रोच्च, मन्दोच्च पात आदि का स्थान परिवर्तन, आकर्षण विकर्षण आदि के निष्पत्ति में अन्तर आना, भूपृष्ठीय परिणाम में क्षितिजान्तर और स्थानान्तरण होने से और दृश्यान्तर एवं प्रभावान्तर आदि, ये सभी तथ्य विचारणीय विषय है। इन्हीं कारणों से कालान्तर में ग्रहगति में और कक्षाक्रम तथा फलों में अन्तर देखा जाता है। इनमें कुछ सिद्ध है तथा कुछ साध्य है। प्रत्येक के धन-ऋण चक्र में परमाल्प और परमाधिक्य के मध्य में ह्रास-वृद्धि का यदि ज्ञान हो जाए तो कालान्तर में उत्पन्न अन्तर का उपपत्ति द्वारा निदान कर सकते है। विभिन्न कालिक ग्रन्थों में पठित अंकों में भी अधिक अन्तर उपर्युक्त कारणों से देखा जाता है। इन्हें सर्वसम्मति के द्वारा कैसे निदान हो एतदर्थ गणित की सूक्ष्मता के लिए निरन्तर वेध प्रक्रिया की सूक्ष्मता होने से कालान्तर जन्य अन्तर जानना सम्भव है।

प्राचीन पठितांकों में अन्तर का कारण कालान्तर जन्य अन्तर निरन्तर वेधजन्य परीक्षण से गम्य है। प्राचीन पंचसिद्धान्तिका से आरम्भ कर आर्यभट्ट से पूर्वक्रम से पराशर तक पठितांकों को स्वीकार कर प्रथमत: गोलीयगणित तथा वेध के आश्रय से आर्यभट्टीय सिद्धान्त प्रथम पौरूष सिद्धान्त के रूप में प्राप्त है। प्राचीन अष्टादश प्रवर्तकों के मूल सिद्धान्त ग्रन्थ के बदलें में इस समय विभिन्न सिद्ध वचन प्राप्त होते है। श्री ब्रह्मगुप्त के द्वारा रचित ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त ब्राह्म पक्ष का उदाहरण है।

श्रीमान् भास्कराचार्य जी के द्वारा रचित सिद्धान्तशिरोमणि में गोलीय युक्तियों का सम्यक् रूप से विस्तार किया गया है। उसी प्रकार से केशव,गणेश,मथुरानाथ, कमलाकर, जयसिंह, नीलाम्बर, बापूदेव, सुधाकर, गेनालाल चौधरी, केतकर, सदाशिव आप्टे, अर्कसोमयाजि, दीक्षित, लाहिरी तथा

मुरलीधर ठाकुर आदि के कार्य स्तुत्य हैं।

आकर्षण विकर्षण ताप, शीत, स्वदीप्त, परदीप्त, गोलीयपिण्डों के तथा उनके अन्तर्गत पंचभुतात्मक पिण्डों के तीन प्रकार से विरल, द्रव्य, दृढ़स्वरूपों की पाँच अवस्थाएँ एवं 25 तत्वों के उपर इस समय भी अन्वेषण एवं प्रयोग गतिशील हैं। ये सभी प्रयोग गोलाश्रित और गणित मूल के अन्तर्गत है। ये सभी अपने-अपने कालिक प्रायुक्तिकी तथा शिल्पजन्य विकास और सामर्थ्य पर आधारित माने जाते हैं। वैदिक वैज्ञानिक परम्परा का द्वितीय पक्ष है व्यक्त और अव्यक्त समन्वित क्रम का गोलीय दृष्टि से दिग्देशकाल एवं पात्र या पिण्ड की दृष्टि से यथार्थ का बोध जरूरी है। आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक त्रिविधवर्गीकरण के प्राचीन तथ्यों में आज आधिभौतिक विकास का पांचभौतिक द्वार उद्घाटित है। अत: दीर्घकालिक वेध एवं पूर्वपठितांकों के रक्षण से निकट भविष्य में कालान्तर गति निर्धारित करना है, तो निरन्तर वेध तथा गणितीय सत्यापन से सम्भव हो सकेगा। विदित हो कि दृग्गणितैक्य पर आधारित अन्तिम सिद्धान्त 'सिद्धान्तदर्पण' है, जो सामन्तचन्द्रशेखर की रचना है।

प्राचीन आचार्यों ने कालान्तर जन्य संस्कार का बीज संज्ञा नाम दिया है। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कर, केशव, गणेश, मथुरानाथ, जयसिंह, सुधाकर, सामन्तचन्द्रशेखर आदि आचार्यों ने स्व-स्व कालिक अन्तर बीजरूप के द्वारा पूर्वपठित अंक में संशोधित कर स्वकालिक अन्तर तथा मान प्रमाण दिये हैं, परन्तु मध्यकालिक आचार्यों ने बीजविधान ग्रहण आदि में दृष्टप्रमाण सिद्धि के लिए तथा अदृष्ट फल सिद्ध के लिए निर्बीज विधान का निरूपण किया है। जैसे – कमलाकर ने कहा कि –

अदृष्टफल सिद्धयर्थं यथार्काद्गणितं कुरू।
गणितं यदि दृष्ट्यर्थं तदृष्टयुद्भवत: सदा।।
सूर्यसिद्धान्तमतोद्वाऽर्कात्साध्यासदा तावधिकौ क्षयाख्यौ।
मासौ ग्रहक्षैर्गणितं तथान्यत्साध्यं सदा यद्यपि तद् ग्रहाद्यम्।।
स्थूलं सदा ब्राह्ममतं निरूक्तमादित्यसिद्धान्तमतं च सूक्ष्मम्।
भाद्यादिके सूक्ष्मतरादसूक्ष्मं सूक्ष्मं मतं स्थूलत एव सिद्धम्।।
अतोऽनिशं संक्रमणे शुभाविना स्थितौ सदा सूक्ष्मविधानसाधने।
सौरमतं शस्तमथान्य निर्णये स्थूलं च मन्ये ग्रहसंक्रमेष्वपि।।

इन श्लोकों में कमलाकरभट्ट ने सूर्यसिद्धान्त से ही अदृष्ट फल साधन के लिए गणित विधान को स्वीकार करना कहा है। ग्रह नक्षत्रों के दर्शन के लिए स्वदृश्य क्षितिजाभिप्रायिक दृग्गणितैक्य के लिए सबीज विधान का समर्थन किया है। सूर्यसिद्धान्त मत के द्वारा आनित यथास्थित सूर्य चन्द्र से अधिमास एवं क्षयमास का साधन करना चाहिए। ब्राह्ममत की अपेक्षा सूर्यसिद्धान्त का सूक्ष्मत्व भी

प्रदर्शित किया गया है। इसी से चान्द्र सौर मासों का अन्तर अधिमासादि का निश्चय धार्मिक कार्य विभिन्न अनुष्ठान आदि अदृष्टफल समस्त साधन निर्बीज साधित तिथ्यादियों में करना चाहिए। ग्रह का लोप दर्शन होन पर ताराग्रहों के योग होने पर, नत और उन्नत नतांश आदि, दिगंश क्रान्ति, शर आदि में सभी स्थानों पर सायन पृष्ठीय सभी ग्रहणादि दृश्य पदार्थ जितना अन्तरित होता है, उसके लिए उपपत्ति के द्वारा बीज संस्कार देकर दृग्गणितैक्य साधक सूक्ष्म गत्यादि के द्वारा सूक्ष्म गणित साधन से दृग्गणितैक्य पदार्थों के साध कर करना चाहिए। इसी प्रकार ग्रह का उदयास्त तथा ग्रहण आदि का साधन करने योग्य है। अत: दृष्टि सिद्धि के लिए दृग्गणित विधान का प्रासंगिकरण सर्वकालिक सिद्ध है। इसलिए खगोलीय सर्वेक्षण का ग्रहगोलीय अन्वेषण क्रम का मनुष्यों के द्वारा लघुस्तरीय, वृहद्स्तरीय और मुख्य खगोलीय परिवेक्षण केन्द्रों का महत्व भी सिद्ध होता है। भास्कर आदि आचार्यों ने सभी जगह इसका वर्णन किया है।

अभ्यास प्रश्न -1

1. सम्प्रति भारतवर्ष में मुख्यत: पंचांग निर्माण के कितने विधान है?
   क. दो ख. चार ग. छ: घ. आठ
2. यदा गणितागत ग्रह वेधयन्त्र द्वारा साधित ग्रह के साम्य होता है, तो उसे क्या कहते हैं?
   क. दृक्तुल्य ख. दृक्सिद्ध ग. वेधोपलब्ध ग्रह घ. स्पष्ट ग्रह
3. दृग्गणितैक्य पर आधारित 'सिद्धान्तदर्पण' किसकी रचना है?
   क. आर्यभट्ट ख. कमलाकर ग. सामन्तचन्द्रशेखर घ. कोई नहीं
4. आचार्य भास्कराचार्य जी ने 'दृग्गणितैक्य' की बात किस ग्रन्थ में की है?
   क. लीलावती ख. बीजगणित ग. सिद्धान्तशिरोमणि घ. सूर्यसिद्धान्त
5. निम्न में दृक्सिद्ध पंचांग का सम्बन्ध किस विधान से है?
   क. दृश्य विधान ख. अदृश्य विधान ग. ग्रहण विधान घ. कालविधान
6. 'नभ:' का शाब्दिक अर्थ क्या है?
   क. आकाश ख. पृथ्वी ग. अग्नि घ.वायु
7. सारिणी पद्धति पर आधारित निर्मित पंचांग की विधान संज्ञा है?
   क. दृश्य ख. अदृश्य ग. गणितीय घ. काल
8. गोल में खमध्य से ग्रह पर्यन्त क्या होता है।
   क. नतांश ख. उन्नतांश ग. द्युज्याचापांश घ. क्षितिज

4.3.1 पंचांग के दृश्य तथा अदृश्य पक्ष -

पंचांग में दिखाई देने वाले पाँच अंगों के अतिरिक्त भी अनेक भेद होते हैं जो पंचांग में होते हैं, परन्तु दिखाई नहीं देते हैं। श्रौत तथा स्मार्त क्रियायें काल के अधीन होती है। काल के ज्ञान के बिना इनकी क्रिया सम्भव नहीं है। श्रुति (वेद) द्वारा जो कार्य होते हैं वे श्रौतकार्य कहलाते हैं। इनमें यज्ञ कार्य प्रमुख होता है। यज्ञ भी काल पर ही आधारित है। यथा दर्शपूर्णमासी यज्ञ। इसमें दो यज्ञ सम्मिलित है। इसमें पूर्णिमा तथा दर्श को यज्ञ सम्बन्धी वस्तुयें एकत्रित करके अगले दिन प्रतिपदा को यज्ञ आरम्भ करना चाहिये। सूर्य तथा चन्द्रमा जब एक स्थान पर होते हैं तो वह दर्श काल (अमावस्या) होता है, जो काल विशेष है। चन्द्रमा जब अपनी कलाओं को पूर्ण कर लेता है तब पूर्णिमा होती है। यह भी काल विशेष ही हैं यह दोनों स्थितियाँ कपोल कल्पित नहीं बल्कि समय पर आधारित तथा प्रत्यक्ष अनुभव करने योग्य है। इसलिए काल का साधन करना आवश्यक है।

यह काल साधन धार्मिक कार्यों के लिए भी आवश्यक है। सुसंस्कारी पत्नी धर्म, अर्थ, काम नामक तीनों तत्वों में सहायता करती है। विवाह लग्न के द्वारा ही उसका चरित्र पवित्र तथा दृढ़ होता है। इस विवाह लग्न के लिए भी शुभ समय की आवश्यकता होती है जो काल का ही पूरक है। इस तरह की सभी धार्मिक क्रियायें काल के आधार पर ही की जाती है। जिस समय पर कार्य किया जायेगा, वो कार्य उस काल के अनुसार ही फलिभूत होगा अर्थात् वह उस किये गये समय के अनुरूप ही फल देगा। ज्योतिष शास्त्र को काल विधान शास्त्र कहते हैं। नारद जी के वचनानुसार – ''विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्मं न सिद्धयति।''

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि समस्त कार्यों के करने वाले काल का साधन कैसे किया जाये? काल का न तो आरम्भ होता है और ना ही अन्त होता है। इसकी गणना भी नहीं की जा सकती। काल का अनुमान ही लगाया जा सकता है। काल दो प्रकार का बताया गया है- प्रथम लोकान्त कृत काल, यह लोकान्त का निर्देशन करता है। ग्रह आदि और अन्त से परे है। इसी काल द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति व अन्त होता है। दूसरा कलनात्मक काल, इसे अनुमानात्मक काल भी कह सकते हैं। इस काल का साधन ग्रह नक्षत्रों की सहायता से होता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने सटीक वैज्ञानिक पद्धति निर्मित की है। छ: ग्रहों के कोणीयगति साधन करने की पद्धति। सभी ग्रह अपनी-अपनी कक्षाओं में भ्रमण करते हुए भूकेन्द्र में जो कोण निर्मित करते हैं उसे ही कोणीय गति कहते हैं। कोणीय गति का साधन इसलिए करते है क्योंकि ग्रहों की दूरियों को नगण्य माना गया है। इस तरह से ही साधित कोणीय गति के द्वारा काल की गणना की जाती है। यह काल व्रतपर्वादि कार्य में सहायता प्रदान करता है।

गणित कार्य में सूक्ष्मता के साथ सटीकता आती है। प्राचीन ऋषियों ने श्रुति, स्मृति, पुराण तथा प्राचीन ग्रन्थों को आधार बनाकर धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु, पुरूषार्थ चिन्तामणि, हेमाद्रि, वीर मित्रोदय आदि ग्रन्थ रचे। प्रत्येक समय ग्रहों के गतिमान होने के कारण ग्रह नभ मण्डल में सदैव दिखाई नहीं देते। कभी दिखते हैं तो कभी अदृश्य हो जाते हैं। इसलिए इन ग्रन्थों के आधार पर स्पष्ट गतियों के द्वारा ग्रहस्पष्ट किया जाता है। ग्रह यदि राश्यादि चक्र में न दिखाई दे तो गणित क्रिया के अन्य संस्कारों द्वारा उसकी उपस्थिति देखी जाती है। इस गणित क्रिया को दृग्गणित की संज्ञा दी गयी है। आधुनिक पंचांग निर्माता इस गणित का उपयोग नहीं करते जिसके कारण पंचांग में अन्तर आ जाता है।

पंचांग साधन के द्वारा ही ग्रह का प्रत्यक्षीकरण होता है। यह फलादेश के लिए भी अतिआवश्यक है। क्योंकि जब पंचांग शुद्ध तथा सटीक होगा तभी फलदेश सही निकल पायेगा। अन्यथा फलोदश भी अशुद्ध हो जायेगा। पंचांग साधन के लिए सावन दिन, वार साधन, तिथि साधन, नक्षत्र साधन, योग साधन, करण साधन तथा चन्द्र साधन की आवश्यकता होती है।

भारतीय पद्धति से दृग्गणितैक्य –

हमारे सिद्धान्त ग्रन्थों में दृग्गणित की एकरूपता प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण है। यथा –

यस्मिन देशे यत्रकाले येन दृग्गणितैक्यकम्।
दृश्यते तेन पक्षेण कुर्यात् तिथ्यादि निर्णयम्।।

जिन व्रत, पर्व, उत्सवादि आदि में ऋतुओं के साथ सम्बन्ध धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट है वहाँ, यदि निरयण मान ग्रहण करते है, तब वसन्तोत्सव शीतकाल में या वर्षाकाल में होगा। प्रत्यक्ष आकाशीय सूर्य स्थिति को दिन-रात्रि का मान प्राय: 21 मार्च से आसन्न होने पर और 22 सितम्बर के आसन्न होने पर दिन-रात्रि समान होता है। किन्तु निरयण मान से इस समय प्राय: 23 या 24 दिनों का अन्तर निरयण मेष संक्रमण और तुला संक्रमण स्वीकार किया जाता है। अयनांश संस्कार से प्रत्यक्ष रूप से दृक् प्रतीति होती है।

ग्रहों के मार्ग स्पन्दशील तथा दोलायमान होने से स्थिर नहीं है। क्रान्तिवृत्त से ये जितना विक्षिप्त होते हैं, वे उनके परम विक्षेप तथा क्रान्तिवृत्त सापेक्ष ये जिस बिन्दु पर राशिचक्र का दक्षिण से उत्तर अतिक्रमण कहते हैं, वह प्रथमपात तथा जिस बिन्दु पर उत्तर से दक्षिण अतिक्रमण करते हैं वह द्वितीय पात है। क्रान्तिवृत्त से ग्रहविक्षेप दक्षिणोत्तर का परमत्व ध्रुवीय मापन तथा कदम्बप्रोतीय मापन से द्विविध होता है। उच्च, मन्दोच्च एवं पात की सापेक्षता से गणित एवं वेध से सभी तत्व ज्ञात करने के सैद्धान्तिक विधान तथा प्रयोग प्रकार भारतीय ज्योतिष में उपलब्ध हैं। यह कथन

अतिशयोक्ति नहीं है कि, सहस्रश: ग्रन्थ समीक्षा की प्रत्याशा में आज भी पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाते हुए मुद्रणबाध्य हो रहे है। उनके त्रिविध संरक्षण क्षीणतम अवस्था को प्राप्त हो रहे है। गणितागत ग्रह जब वेध से साम्य रखते है, तो उस पद्धति को दृग्गणितैक्य विधायक पद्धति कहते हैं। गणितोपलब्ध क्रान्तिवृत्तीय स्थानाभिप्रायिक ग्रहों में दृक्कर्मादि संस्कार करने के बाद ही ग्रहर्क्ष दृश्य होते हैं। इसके बाद भी कालान्तर जन्य अन्तर के कारण यदि बिम्बोदय गणितागत काल से जितना पूर्व या बाद में होता है, उसके हिसाब से पद्धति की तात्कालिक स्थूलता का बोध होता है। अत: सद्य: द्विविध गोलीय वेध एवं गणितीय सत्यापन का दृढ़ सम्बन्ध सिद्ध है। इस क्रम के टूटने से ही भ्रम की प्रवृत्ति हुई है। अत: इसके निराकरणार्थ राष्ट्रीयवेधशाला एवं क्षेत्रीयवेधशाला निर्माण कर निरन्तर वेध की महती आवश्यकता है।

वास्तविक बिम्बोदय तथा आभाषिक बिम्बोदय का अन्तर काल भी आज ज्ञात है। ज्योतिषसिद्धान्त में भी इसके संकेत मिलते हैं। न्यूनाधिक गति से चलायमान ग्रह वर्तमान में दृग्गणितैक्य से जितना भी अन्तरित उपलब्ध हो, उसे जानकर अन्तर के कारण एवं अनियत अन्तर एवं कालान्तरगति का निर्धारण कर ले तो दीर्घकाल तक के लिए समस्या समाप्त हो जायेगी।

कोई भी परिवर्तन गति दीर्घकाल सापेक्ष एक रूपक नहीं रहती। अत: सदा बीज संस्कार एवं बीजान्तर अधिक होने पर वर्तमान उपलब्धि एवं मानक के आधार पर नये-नये करण ग्रन्थ बनते रहे हैं। चूँकि नासा, यूरोपियन अल्मनाक तथा भारतीय खगोलपरिषद भी अनियत परिवर्तन की वर्तमान गति से मापने के मानक की बाध्यता को अभी नहीं तोड़ सके हैं। फलत: शुद्ध फलचक्र के चक्कर में अचलवत् निरयण नक्षत्रचक्र से सायन सौरचक्र का सम्बन्ध खण्डित कर रहे हैं।

दृश्य पंचांग का पक्ष भी प्राचीन –

''पृष्ठस्थाने ग्रहं विध्वा कथं कार्य: कुकेन्द्रिक:।'' के समाधान में सभी सिद्धान्त वेध सिद्ध ग्रह को स्थानाभिप्रायिक भूकेन्द्रिक में बदलने की युक्ति देते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि स्पष्टाधिकारान्त प्रभा टीका में पृष्ठीय ग्रह से गर्भीय ग्रह लाने की युक्ति मिलती है। उपपत्तीन्दुशेखर में म.म. दुर्गा प्रसाद द्विवेदी नें भी इस तथ्य की विधिवत् समीक्षा की है। भास्करादि आचार्यों ने तथा सूर्यसिद्धान्त में भी इस प्रकार की युक्ति मिलती है।

पंचांग समिति का प्रतिवेदन में भी पं. रामसुचित त्रिपाठी प्रभृति विद्वानों ने निर्बीज से तिथ्यादि साधन तथा सबीज से ग्रहणादि साधन का समर्थन किया। इस पक्ष का खण्डन पं. दीनानाथ शास्त्री चुलैट, प्रोफेसर शक्तिधर शर्मा (शास्त्रशुद्ध पंचांग मीमांसा में) स्वर्गीय शंकरबालकृष्ण दीक्षित तथा अनेक सूक्ष्मतावादी सूक्ष्म निरयण समर्थक लाहिरी प्रभृति करते हैं, लेकिन ये प्राचीन विधान इस

महाकाशविज्ञान के युग में समीक्षणीय है। क्योंकि पूर्व समीक्षा में अदृष्ट तथा दृष्ट का शास्त्रीय स्वरूप दर्शाया गया है। पूर्वकालिक पद्धति का स्थानाभिप्रायिक ग्रह ग्रहचारान्तर से निश्चित कालखण्ड के पश्चात् स्थानान्तरित होनें से दृक्कर्मादि संस्कार करने पर भी दृश्यता खोते हैं। वहाँ कालान्तर बीजदान से प्राप्त दृश्यत्व तो ठीक है, लेकिन अदृष्ट स्थिति को स्थूल छोड़ना किस दृष्टि से ठीक है। एतदर्थ परम्परागत प्रमाणों की समीक्षा से दृष्ट तथा अदृष्ट दोनों पक्ष सूक्ष्म मान-प्रमाण से गृहीत होनें के प्रमाण तथा संकेत निगमागम सम्मत होने से ग्राह्य है।

वैदिक काल में सुपर्णचिति पंचांग से प्रारम्भ कर सामन्त चन्द्रशेखर तथा जयसिंह तक के प्रमाण द्रष्टव्य तथा समीक्षणीय हैं। आकाशीय निरीक्षण से वैदिक ऋषि सुपर्णचिति पंचांग की गणना एवं दृग्गणितैक्य करते थे। 'प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शनमिति' वैदिकप्रमाण इसका यजुर्वेदीय संकेत है।

प्रभाकरसिद्धान्त भी पं. दीनानाथ शास्त्री चुलैट का दृश्य पंचांग साधक विधान है।

दृक्सिद्ध और दृक्तुल्य ये दो स्थितियाँ हैं। दृक्तुल्य ग्रह आकाश में दृश्य होते हैं। दृष्ट्या सिद्धः दृक्सिद्धः की व्युत्पत्ति से दृष्टि से सिद्ध ग्रह भी पूर्वार्ध का ही अर्थात् दृक्तुल्य का द्योतक है, लेकिन वस्तुतः दृष्ट्यासिद्धः का तात्पर्यार्थ क्रान्तिवृत्तीय कदम्बसूत्रीय स्थानाभिप्रायिक सूक्ष्म निरयण का द्योतक हो जाता है। ये ग्रह ही पंचांग तथा धर्मानुष्ठान के योग्य हैं। दृक्तुल्य ग्रह से ग्रहणादि तो ठीक-ठीक दृश्य होते हैं, लेकिन उन दोनों का अन्तर भी भास्करादि के प्रमाण से सिद्ध है। पं. चुलैट, एन.सी. लाहिरी, केतकर, प्रो. शक्तिधर शर्मा तथा अन्य आचार्यों ने दृक्तुल्य ग्रहों को दृक्सिद्ध करने की चेष्टा की, लेकिन उनके प्रकार इन्हें कितना दृक्सिद्ध बना पाया, यह समीक्षा का विषय है।

4.3.2 दृक्प्रत्ययद् नवीन पंचांग –

सम्प्रति हमारे देश में प्रचलित सभी निरयन पंचांगों से दृक्प्रतीति नहीं होती अर्थात् उनमें लिखी परिस्थिति आकाश में नेत्रों से प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देती, अतः कुछ लोगों ने नवीन दृक्प्रत्ययद् सूक्ष्म पंचांग बनाना आरम्भ किया है। अब यहाँ उन्हीं का वर्णन करेंगे।

१. केरोपन्ती अथवा पटवर्द्धनी पंचांग – यह पंचांग शक १७८७ से छपता है, इसमें अक्षांश और रेखांश बम्बई के हैं। केरो लक्ष्मण छत्रे इसके कर्ता और आबा साहब पटवर्धन प्रवर्तक थे। आरम्भ में कुछ दिनों तक छत्रे जी ने इसके गणित स्वयं किया होगा। बाद में उनकी देखरेख में वसई के आबा जोशी मोघे करते थे। उनका स्वर्गवास हो जाने के बाद उनके वंशज करते हैं। केरोपन्त के बाद उसका निरीक्षण उनके पुत्र नीलकंठ विनायक छत्रे करते हैं। सुनते हैं, केरोपन्त के बाद उसका पुत्र और कई शिष्य भी कुछ गणित करते हैं। रत्नागिरि के जगन्मित्र प्रेस के मालिक जर्नादन हरि आठले की इस पंचांग पर बड़ी श्रद्धा है। शक १७९१ से १८११ पर्यन्त वे इसे अपने व्यय से छापते थे। पहले इसका

नाम 'नवीन पंचांग' था। इसके गणित का खर्च आबा साहब पटवर्धन देते थे। उन्हें यह विषय बड़ा प्रिय था। उन्होंने तीन चार सहस्र रूपया व्यय करके कुछ यन्त्र भी मोल लिये थे और वे स्वयं वेध करते थे। यद्यपि यह सत्य है कि इस पद्धति के कल्पक केरोपन्त हैं, परन्तु आबासाहब प्रोत्साहन न देते तो इसका उदय न हुआ होता। पटवर्धन की स्मृति में शक १७९९ से इसका नाम नवीन या पटवर्धनीय पंचांग रखा गया। शक १८१२ से पूना के चित्रशाला प्रेस के मालिक वासुदेव गणेश जोशी इसे अपने व्यय से छपाते थे। पंचांग का विक्रय कम होने के कारण उन्हें इसमें घाटा हुआ करता है। आठले और जोशी ने यदि छापना स्वीकार न किया होता तो यह पंचांग कभी का लुप्त हो चुका होता, परन्तु किसी ने उनका प्रत्यक्ष आभार भी नहीं माना। इतना ही नहीं, वे अपने व्यय से पंचांग छपाते हैं, यह बात किसी ने प्रकाशित तक नहीं की।

२. **दृग्गणित पंचांग** – मद्रासनिवासी रघुनाथाचार्य जी ने इंग्लिश नाटिकल आल्मनाक द्वारा शक १७९१ से यह पंचांग बनाना आरम्भ किया। यह द्रविड़ और तैलंगी दोनों लिपियों में छपता है। इससे ज्ञात होता है कि उन प्रान्तों में इसका विशेष प्रचार है। इसे शिरिय (लघु) कहते हैं। प्रतीत होता है रघुनाथाचार्य अपने समय में पेरिय (वृहत्) दृग्गणित पंचांग बनाते थे। रघुनाथाचार्य जी का उपनाम चिन्तामणि है। उनके पुत्र वेंकटाचार्य का बनाया हुआ शक १८१८ (वर्तमान कलि ४९९८) का द्रविड़ लिपि में छपा हुआ शिरिय सौर पंचांग हमारे पास है। उसमें शक १८१९ की मेषसंक्रान्ति रविवार (११ अप्रैल १८९७ ई0) को ५२ घटी ४३ पल पर है। सूर्यसिद्धान्तानुसार स्पष्ट मेषसंक्रान्ति लगभग इसी समय आती है। बहुत थोड़ा अन्तर पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि इसमें सूर्यसिद्धान्तागत स्पष्टरवि और नाटिकल अल्मनाक द्वारा लाये हुए स्पष्ट सायन रवि के अन्तर तुल्य शक १८१९ के आरम्भ में २२/१५ अयनांश माना है। इसमें अक्षांश और रेखांश मद्रास के होंगे।

बापूदेव शास्त्री का पंचांग – बापूदेव शास्त्री को सायन गणना मान्य है। सन् १८६३ के लगभग सायन गणना की शास्त्रीयता के विषय में उन्होंने इंगलिश में एक निबन्ध लिखा था। वह छपा है। उससे ज्ञात होता है कि उनके मन में सायन पंचांग ही शास्त्रानुकूल है। यद्यपि उन्होंने काशीराज के आश्रय द्वारा शक १७९८ से निरयन पंचांग छपाना आरम्भ किया है तथापि निरयन पंचांग को मानने वाली जनता के केवल सन्तोष के लिए उन्होंने ऐसा किया है, क्योंकि पंचांग की प्रस्तावना में ऐसा लिखा है कि –

महाराजाधिराजद्विजराज श्री ५ मदीश्वरीप्रसादनारायणसिंहबहादुराख्येन श्रीकाशीनरेश ..... आदिष्ट: पंचांगकरणे प्रवृत्तोऽहम्। भवति यद्यप्यत्र सायनगणनैव मुख्या तथाप्यस्मिन भारतवर्षे सर्वत्र निरयनगणनाया एव प्रचारात् सामान्यजन प्रमोदायेदं तिथिपत्रं निरयनगणनयैव व्यरचयम्।।

बापूदेव शास्त्री का पंचांग इंग्लिश नाटिकल अल्मनाक से बनता है। उसमें अक्षांश और रेखांश काशी

के हैं। उन्होंने लिखा है कि सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थों द्वारा लाये हुए रवि और सूक्ष्म सायन रवि के अन्तर तुल्य इसमें अयनांश माना है। नाटिकल अल्मनाक के सायन रवि और अपने पंचांग के निरयन रवि की तुलना करते हुए इन्होंने शक १८०६ में अयनांश लगभग २२ अंश १ कला माना है। उस वर्ष सूर्यसिद्धान्तानुसार अमान्त चैत्र कृष्ण १ शुक्रवार को काशी के स्पष्ट सूर्योदय से ३० घटी २६ पल पर मेष संक्रान्ति आती है पर बापूदेव शास्त्री के पंचांग में उसी दिन ३१ घटी १२ पल अर्थात् सूर्यसिद्धान्त से वह ४६ पल आगे है। अन्य किसी भी सिद्धान्त से यह काल नहीं आता। इससे सिद्ध होता है कि उन्होंने अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं बल्कि सूर्यसिद्धान्त का ही लिया है। उसमें ४६ विकला की अशुद्धि होगी। केरोपन्त से बापूदेवशास्त्री का वाद विवाद हुआ था, उस सम्बन्ध में उन्होंने पूना के ज्ञानप्रकाश पत्र के १४ जून सन् १८८० के अंक में एक लेख दिया था। उसमें लिखा था कि सूर्यसिद्धान्त का ही लेना चाहिए परन्तु मध्यम। उपर्युक्त सूर्यसिद्धान्तागत मेषसंक्रान्तिकाल में नाटिकल अल्मनाक द्वारा सायन रवि २२/०/३१ आता है, अत: अयनांश इतना ही मानना चाहिए, पर शास्त्री जी २२/१/० माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने पंचांग में मध्यम रवि का नहीं बल्कि स्पष्ट रवि का ही अन्तर स्वीकार किया है। बापूदेव शास्त्री के पश्चात् उनके शिष्यों ने पंचांग बनाने का काम जारी रखा है।

अन्य पंचांगों से बापूदेवशास्त्री के पंचांग में भिन्नता केवल इसी एक बात है कि वह नाटिकल अल्मनाक से बनाया जाता है, इस कारण उसकी ग्रहगतिस्थिति शुद्ध अर्थात् दृक्प्रत्ययद होती है। अयनांश में थोड़ा अन्तर है पर वह नहीं के बराबर है। सूर्यसिद्धान्तार्गत रवि और नाटिकल अल्मनाक के रवि के अन्तर तुल्य अयनांश मानने से वर्षमान सूर्यसिद्धान्तीय मानने सरीखा ही होता है।

इसके अतिरिक्त तंजौर प्रान्त के तिरूवादि स्थान निवासी सुन्दरेश्वर श्रौती और वेंकटेश्वर दीक्षित शक १७९८ से तमिल लिपि में एक सक्ष्म सौर पंचांग बनाते हैं। उसमें शक १८१५ के आरम्भ में अयनांश २२/१० अर्थात् लगभग रघुनाथाचार्य के पंचांग तुल्य ही मानना है। उस वर्ष मेषसंक्रान्ति भौमवार को ५१ घटी ३१ पल पर लगी है। प्रतीत होता है कि तिरूवादि में ज्योतिस्तन्त्रसभा नाम की कोई सभा स्थापित हुई थी। उसके अध्यक्ष चिदम्बरम् ऐयर ने सन् १८८३ई0 में (Hindu Zodiac) नामक एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि उपर्युक्त पंचांग कुंभकोणस्थ शंकराचार्य की आज्ञानुसार बनता है। राजपूताने के खेतड़ी नामक रियासत के राजा अजितसिंह की आज्ञा से रूड़मल्ल नामक ज्योतिषी का बनाया हुआ अजितप्रकाश नामक शक १८१८ का पंचांग भी नाटिकल अल्मनाक पर ही आधारित है। इसमें वर्ष के आरम्भ में अयनांश २२/११ है तथा इसमें

अक्षांश और रेखांश खेतड़ी के हैं। अक्षांश २८ और कालात्मक देशान्तर उज्जयिनी से पश्चिम ३ पल दिया है।

4.4 सायन पंचांग –

जिस दिन से दिनमान घटने या बढ़ने लगता है वस्तुत: उसी दिन से क्रमश: उत्तरायण और दक्षिणायन आरम्भ होता है और यह बात आकाश में भी प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है, पर ऐसा होते हुए भी हमारे देश में प्रचलित आजकल के पंचांगों में अयनप्रवृत्ति उस दिन नहीं लिखी रहती। हमारे पंचांगकार मकर और कर्क संक्रान्तियाँ लगभग २२ दिन बाद लिखते हैं। साधारण मनुष्य को भी शंका होगी कि वास्तविक परिस्थिति के विपरीत ऐसा क्यों किया जाता है। इस शंका की उत्पत्ति और उसके समाधानार्थ किये हुए संशोधन का फल आधुनिक सायन पंचांग है। इसके जन्म दाता हैं। लेले,

जनार्दन, बालाजी मोडक और शंकरबालकृष्णदीक्षित हैं।

सायन पंचांगकार सायनपंचांग जिस पद्धति से बनाते हैं वह यह है – सम्पात से आरम्भ कर क्रान्तिवृत्त के तुल्य २७ भाग करके उन्हें अश्विन्यादि नक्षत्र और तुल्य १२ भागों को मेषादि राशि कहा है, अर्थात् अश्विनी नक्षत्र और मेष राशि को सम्पात से आरम्भ किया है, वहाँ तारात्मक नक्षत्र चाहें जो हो। इसी प्रकार सायन राशियों में सूर्य के प्रवेश को संक्रान्ति कहा है और उसी के अनुसार चान्द्रमासों के नाम रखे हैं। जिस चान्द्रमास में सायन मेषसंक्रान्ति होती है अर्थात् वसन्तसम्पात में सूर्य जाता है, उसे चैत्र कहा है। इसी प्रकार वैशाखादिकों की भी व्यवस्था की है। इस पद्धति से चैत्र में सर्वदा वसन्त रहेगा, आर्द्रा नक्षत्र में वर्षा आरम्भ होगी और इसी प्रकार सब ऋतुएँ नियमित मासों में होंगी।

सायन और निरयन मानों के ग्राह्याग्राह्यत्व का विचार यहाँ तार्किक दृष्टि से करते हैं। जैसे दिन की गणना का प्राकृतिक साधन सूर्योदय और मासगणना का प्राकृतिक साधन चन्द्रमा का पूर्ण या अदृश्य होना है, उसी प्रकार वर्षगणना का स्वाभाविक साधन ऋतुओं की एक परिक्रमा है। ऋतुयें उत्पन्न न हुई होती तो वर्ष एक कालमान न बना होता, पर ऋतुओं की उत्पत्ति का कारण सूर्य है, अत: वर्ष सौर मानना चाहिए और चूँकि ऋतुएँ सायन रवि के अनुसार होती हैं, अत: वर्ष भी सायन सौरमान का मानना चाहिए। दूसरे यह है कि १२ चान्द्रमासों में ऋतुओं का एक पूर्ण पर्यय नहीं होता, इसलिए बीच में अधिमास डालना पड़ता है। यदि अधिमास का प्रक्षेपण न किया जाय तो जैसे मुसलमानों का मुहर्रम ३३ वर्षों में सब ऋतुओं में आता है, उसी प्रकार ३३ वर्षों में चैत्र में क्रमश: सब ऋतुयें आ जाया करेंगी। अत: सिद्ध है कि अधिमास मानने का केवल यही एक उद्देश्य है कि किसी भी मास में सर्वदा एक ही ऋतु रहे। चूँकि ऋतुयें सायन मान पर अवलम्बित हैं, अत: अधिकमास का अवलम्बन

करना तत्वत: सायन मान स्वीकार करने के समान ही है। जैसे अधिमास न मानने से ३३ वर्षों में प्रत्येक मास में सभी ऋतुयें क्रमश: घूम जाती हैं, उसी प्रकार नाक्षत्र सौरवर्ष मानने से लगभग २६००० वर्षों में एक ही मास में क्रमश: सब ऋतुयें आ जायेंगी, अर्थात् चैत्र में आज यदि वसन्त है तो सवा चार सहस्र वर्षो में ग्रीष्म, साढ़े आठ सहस्र वर्षों में वर्षा और १७ सहस्र वर्षों के पश्चात् हेमन्त ऋतु होने लगेगी। ३३ वर्षों में होने वाली ऋतुमास विपर्यय को दूर करने के लिए यदि हम अधिकमास मानते हैं, तो बहुत दिनों में ही क्यों न आये, परन्तु जिसका आना निश्चित है उस ऋतुमास विपर्यय को हटाने के लिए सायन सौरवर्ष स्वीकार करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

सायन वर्षमान नैसर्गिक है, अत: सृष्टि उत्पन्न होने के बाद जब से वर्ष शब्द का व्यवहार होने लगा है तभी से उसका प्रचार होना चाहिए और वस्तुत: वह तभी से प्रचलित है। प्राय: वेदकाल में उसी का प्रचार था। मधु, माधव इत्यादि संज्ञाओं का प्रचार होने के पूर्व अधिकमास का प्रक्षेपण कर ऋतुओं के पर्यय द्वारा वर्ष मानते रहे होंगे अर्थात् उस समय कुछ स्थूल सायन ही वर्ष प्रचलित रहा होगा। उसके बाद मध्वादि नामों का प्रचार हुआ। उस समय सायनवर्ष के मान में बहुत सूक्ष्मत्व आ गया था। उसके सैकड़ों वर्ष बाद चैत्रादि नाम प्रचलित हुए, तब तक सायन मान का ही प्रचार था शकपूर्व २००० वर्ष के लगभग चैत्रादि संज्ञायें प्रचलित हुई और निरयनमान की नींव पड़ी। वेदांग ज्योतिष में धनिष्ठारम्भ से वर्षारम्भ माना है। यह निरयन मान है। परन्तु वेदांगज्योतिष में उत्तरायणारम्भ से भी वर्षारम्भ माना है। सूर्य के पास के नक्षत्र दिखाई नहीं देते, इससे धनिष्ठा के आरम्भ में सूर्य के आने के काल को जानने की अपेक्षा उत्तरायणारम्भ काल जानना एक अज्ञ के लिए भी सुगम होता है। अत: वस्तुत: अयनारम्भ से ही वर्ष का आरम्भ मानते रहे होंगे।

अभ्यास प्रश्न – 2

1. गणितागत ग्रह जब वेध से साम्य रखते है, तो उस पद्धति को .....पद्धति कहते हैं।
2. पृष्ठस्थाने ग्रहं विध्वा कथं कार्य: .....।
3. मकर संक्रान्ति .....होता है।
4. केरोपन्ती तथा पटवर्द्धनी पंचांग ..... है।
5. सूर्य का मकर राशि में प्रवेश करने से ..... आरम्भ होता है।

4.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि सम्प्रति भारतवर्ष में पंचांग निर्माण मुख्यत: दो विधियों द्वारा किया जा रहा है- उनमें एक दृश्य विधान है, तो दूसरा अदृश्य

विधान। दृक्सिद्ध पंचांग का सम्बन्ध दृश्य विधान से है। आज कतिपय आचार्य अपनी पारम्परिक पद्धति (सारिणी द्वारा) के अनुसार ही पंचांग का निर्माण करते हैं तथा कुछ विद्वान आधुनिकतम विधियों के अनुसार साधित ग्रहों के आधार पर पंचांग बनाना चाहते हैं। आधुनिक पद्धति को 'दृश्य गणित' कहते हैं तथा इस पद्धति से निर्मित पंचांग को 'दृश्य पंचांग' कहते हैं। जितने भी दृश्य कार्य हैं उनका साधन दृश्य पद्धति से ही होना चाहिए तभी गणितागत एवं वेधोपलब्ध परिणामों में साम्य हो सकेगा अन्यथा नहीं।

दृक्सिद्ध क्या है? इसे समझने के लिए सर्वप्रथम गणितागत ग्रहों एवं वेध द्वारा साधित ग्रहों को जानना होगा। गणितागत ग्रह से तात्पर्य अहर्गणोत्पन्न मध्यम ग्रह में मन्दफल, शीघ्रफलादि स्पष्ट संस्कारजन्य स्पष्टग्रह से है, जिसे **'दृक्तुल्य'** भी कहा जाता है। तथा वेध द्वारा साधित ग्रह से तात्पर्य वेधयन्त्र द्वारा साधित ग्रह से हैं।

यदा गणितागत ग्रह वेधयन्त्र द्वारा साधित ग्रह के साम्य होता है, तो उसे **दृक्सिद्ध** कहते हैं। दृग्गणितैक्य का स्वरूप प्रासांगिक है। नेत्रों द्वारा आकाशस्थ ग्रहों को वेधकर गणितीय विधान से एकरूपता देने की पद्धति को 'दृग्गणित' कहते है। इसका महत्व प्राचीनकाल से ही सम्प्रत्यावत् विद्यमान है। पौरूष सिद्धान्त के आविष्कारक आचार्य आर्यभट्ट से लेकर विद्यावाचस्पति मुरलीधर ठाकुर पर्यन्त सभी आचार्यों ने दृग्गणित सिद्धान्त के महत्व को स्वीकृत् किया है। वेध द्वारा सिद्ध पृष्ठीय सायन और पृष्ठीय वेधोपलब्धग्रह से गर्भीयसाधन करने की पद्धति का सूक्ष्म विवेचन ही दृक्सिद्ध का वास्तविक पक्ष होता है। गर्भीय ग्रह निरयन होता है। भारतीय पद्धति मूलत: इसी को ग्रहण करता है।

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

पंचांग –पाँच अंगों (तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण) के समाहार को पंचांग कहते है।

दृक्तुल्य – अहर्गणोत्पन्न मध्यम ग्रह में मंदफल, शीघ्रफलादि संस्कार द्वारा आनीत स्पष्ट ग्रह।

दृक्सिद्ध – गणितागत ग्रह जब वेधोपलब्ध ग्रह से साम्य रखता हो, उसे दृक्सिद्ध कहते हैं।

सायन – अयनांश मान के सहित सायन पद्धति होता है।

निरयण – अयनांश रहित मान निरयण मान होता है।

योग – सूर्य एवं चन्द्रमा के योग से योगों की उत्पत्ति होती है। आनन्दादि एवं विष्कुम्भादि दो प्रकार के योग होते हैं।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 का उत्तर

1. क
2. ख
3. ग
4. ग
5. क
6. क
7. ख
8. क

अभ्यास प्रश्न -2 का उत्तर

1. दृग्गणितैक्य विधायक
2. कुकेन्द्रिक:
3. 14 या 15 जनवरी
4. दृक्प्रत्ययद
5. उत्तरायण

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय ज्योतिष – श्री शंकरबालकृष्णदीक्षित
2. आधुनिक पंचांग दर्शन – प्रोफेसर भास्कर शर्मा
3. संवत्सरावली – टीका – पण्डित हीरालाल मिश्र:
4. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
5. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

4.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. भारतीय ज्योतिष - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री
2. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा
3. पंचांग समिति का प्रतिवेदन – पंडित दीनानाथ शास्त्री चुलैट
4. वैजयन्ती पंचांग गणितम् – डॉ0 भास्कर शर्मा
5. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. दृक्सिद्ध पंचांग से आप क्या समझते हैं?
2. दृक्सिद्ध एवं दृक्तुल्य में क्या अन्तर है? स्पष्ट कीजिये।
3. वर्तमान में प्रकाशित होने वाले दृश्य पंचांगों का वर्णन कीजिये।
4. सायन पंचांग पर प्रकाश डालें।
5. निरयण पंचांग का निरूपण कीजिये।

इकाई - 5 पंचांग की उपयोगिता

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 पंचांग विवेचन
5.4 पंचांग की उपयोगिता
5.5 सारांश
5.6 पारिभाषिक शब्दावली
5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
5.9 सहायक पाठ्यसामग्री
5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई-503 के प्रथम खण्ड की पाँचवी इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है– पंचांग की उपयोगिता। इसके पूर्व की इकाईयों में आपने पंचांग स्वरूप, संक्षिप्त इतिहास, उसकी परम्परा, दृक्सिद्ध पंचांग आदि का अध्ययन कर लिया है। अब आप इस इकाई में पंचांग की उपयोगिता के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

पंचांग ज्योतिष शास्त्र का प्राण माना जाता है। समस्त ज्योतिष शास्त्र का सारतत्व पंचांग में ही समाहित होता है। अत: इसकी उपयोगिता इससे और भी बढ़ जाती है।

पंचांग का सम्बन्ध आम जनमानस के दैनिक जीवन के क्रियाकलापों से जुड़ा है। अत: पंचांग की उपयोगिता अक्षुण्ण है। आइए हम उन पंचांग की उपयोगिता के बारे में विस्तृत अध्ययन करते है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- पंचांग के अंगों को समझ लेंगे।
- पंचांग के सैद्धान्तिक प्रक्रिया को जान लेंगे।
- पंचांग की आवश्यकता को समझा सकेंगे।
- तिथि आदि पंचांग के अंगों का विभिन्न गणितीय उपपत्तियों को समझ लेंगे।
- पंचांग के महत्व को जान जायेंगे।

5.3 पंचांग विवेचन

पंचांग शब्द स्वयं ही अपना परिचय देता है। पाँच अंगों का समवेत स्वरूप ही पंचांग है। उन पाँच अंगों के नाम क्रमश: इस प्रकार हैं – तिथि, वार, नक्षत्र योग एवं करण। इन पाँचों अंगों के आधार पर किसी भी शुभकार्य हेतु शुभ समय का निर्णय किया जाता है। जहाँ ये अंग हमें शुभाशुभ समय का ज्ञान करातें हैं वहीं हमें आकाश दर्शन में भी सहायक होते हैं। इन अंगों के निरूपण के साथ-साथ ग्रहों की गति, स्थिति एवं चार का ज्ञान पंचांग के माध्यम से अत्यन्त सरल ढंग से किया जाता है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि आकाशीय घटनाओं के साथ-साथ उनके परिणामों का भी उल्लेख कर अधिकाधिक लोगों को अवगत कराया जा सके। इस दृष्टि से ज्योतिष के सिद्धान्त,

संहिता एवं होरा स्कन्धों के अनेक व्यावहारिक विषयों का समावेश आधुनिक भारतीय पंचांगों में होने लगा है। आज पंचांग ज्योतिष सम्बन्धी अनेक विषयों का महत्वपूर्ण संकलन भी है। यदि कोई व्यक्ति केवल पंचांगों का ही अध्ययन कर ले तो वह अनेक व्यावहारिक विषयों का ज्ञाता हो सकता है। यही कारण है कि आज पंचांग हमारी जीवन पद्धति के अंग बन चुके हैं।

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादास्तेषु केवलम्।
प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ।।

इस उक्ति के अनुसार ज्योतिषशास्त्र प्रत्यक्ष शास्त्र है और इसकी गणनाओं का मूलाधार सूर्य एवं चन्द्रमा की स्थिति रहा है। प्राचीनकाल से ही ज्योतिष का प्रथम सम्बन्ध खगोल से रहा है। खगोलीय पिण्डों के साथ मानव के तादात्म्य सम्बन्ध का पक्षधर ज्योतिषशास्त्र फलित के अन्तर्गत मानव पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का विवेचन करता है। हमारे सौरमण्डल में सभी ग्रह कक्षा में सूर्य के चारों ओर भ्रमण करते हैं और वैदिक काल से ही विद्वान इन ग्रहों की गति, युति व प्रभावों का अध्ययन करते रहे हैं, और आकाशीय चमत्कारों से अभिभूत होते रहे हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में खगोलीय ग्रह नक्षत्रों की स्थितियों ने मनुष्य को उलझन में डाल दिया था और तभी से मनुष्य ने इनके रहस्य को समझने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। मनुष्य व्यवहार के साधनभूत कालमान आकाशीय पिण्डों के चमत्कारों एवं गति पर ही अवलम्बित है। खेती के लिए ऋतुओं का ज्ञान आवश्यक है और ऋतु ज्ञान सूर्य पर आधारित है। वर्षा भी सूर्य के कारण ही होती है। प्रकृति में होने वाले विक्षोभों की सूचना इन ग्रहों की विविध स्थितियों से ही प्राप्त होती है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य आकाशस्थ ज्योति के चिन्तन में संलग्न है लेकिन इस ज्ञान को शास्त्र का रूप प्राप्त करने में ही काफी लम्बा समय लगा। वैदिक वांङ्मय में ज्योतिषीय ज्ञान यत्र-तत्र बिखरा सा उपलब्ध होता है क्योंकि वे ज्योतिष के ग्रन्थ नहीं थे, वेदांग काल में आते आते ज्योतिष ने शास्त्र का आकार प्राप्त किया और वेदों को जानने के लिए ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत की जाने लगी और ज्योतिष को वेद पुरूष का 'नेत्र' कहा गया। इसलिए भास्कराचार्य जी ने भी स्वग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में कहा है –

वेदश्चक्षु: किलेदं स्मृतं ज्योतिषम्।

प्रकृति की गोद में रहने वाला प्रारम्भिक मनुष्य तो साक्षात् आकाश में ग्रह आदि की स्थिति देखकर ही काल विषयक अनुमान लगा लेता था। धीरे-धीरे ग्रह गतियों की विवेचना एवं गणना सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण हुआ और आम व्यक्ति इन ग्रन्थों के माध्यम से ही ग्रहों की स्थिति का अनुमान करने लगा। पंचांग निर्माण मनुष्य की इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु किया जाने लगा कि मनुष्य पंचांग के माध्यम से ही ग्रहों की स्थिति, गति व उनके होने वाले परिवर्तनों को जान ले। पंचांग

निर्माण की अनेकानेक विधियाँ यथा केतकी, ग्रहलाघव, सूर्यसिद्धान्त आदि पर आधारित गणना पद्धति देश में प्रचलित रही हैं और उसके भी नाना भेद सायन, निरयन, सौर, दृक् आदि प्रचलित रहे हैं। प्रत्येक पद्धति से पंचांग निर्माण में कुछ न कुछ भेद अवश्य उपस्थित होता है। लम्बे समय तक दृक्पक्षीय व सौरपक्षीय पंचांगों में विवाद की स्थिति बनी रही और उनकी गणनाओं के अन्तर के कारण उस पर आधारित व्रत, पर्व आदि के निर्णयों में भी विवाद की स्थिति बन गई आज अधिकांश लोग दृक्पक्षीय पंचांगों को स्वीकार करने लगे हैं।

5.4 पंचांग की उपयोगिता

सम्पूर्ण विश्व में सभी मनुष्य सुख की अभिलाषा रखते है, परन्तु इष्ट की प्राप्ति बिना अनिष्ट शमन की प्राप्ति नहीं हो सकता, यह वेदों का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वेदों में यज्ञ द्वारा अनिष्ट का शमन कर इष्ट की प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया हैं कि ''यज्ञों वै श्रेष्ठतमं कर्म''। यज्ञ सम्पादन के लिए शुभकाल की आवश्यकता होती है। क्योंकि शुभकाल में किया गया यज्ञ सफलता का द्योतक है। शुभकाल के बिना विहित यज्ञादि कर्म कष्टप्रद होते है। अपने जीवन यात्रा में मनुष्य बहुत से कार्यों का सम्पादन करता है, किन्तु शुभाशुभ कालविचार के बिना उसका निवर्हन नहीं हो पाता। धर्मकार्य, गृहनिर्माण, विवाह, यात्रा, युद्ध इत्यादि सभी कार्यों में शुभ समय की आवश्यकता होती है। इन समयों का ज्ञान केवल ज्योतिषशास्त्र के द्वारा ही प्राप्त होता है। ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों एवं नक्षत्रों की गति, स्थिति, संस्थान, मान, प्रमाण एवं सर्वविध प्रभाव के विषय में सिद्धान्त, संहिता एवं होरा इन तीनों भेदों का वर्गीकरण किया गया है। अत: ज्योतिष शास्त्र को कालविधायक तथा बोधक शास्त्र कहा गया है। काल के दो भेद है – 1. नित्य 2. अनित्य।

नित्यकाल सविरंचि सब्रह्माण्ड एवं सर्व भूतसंहारक है। अनित्य काल कलनात्मक एवं व्यवहार योग्य है। इसी व्यावहारिक काल के ज्ञान के लिए ज्योतिर्विद पंचांग का निर्माण करते है। वस्तुत: ज्योतिष का मुख्य कार्य पंचांग का सम्यक रूप से निर्माण करना है। यज्ञादि श्रौत स्मार्त कर्मों के सम्पादन में, षोडशसंस्कारों के विधान में व्रत, पर्व, अनुष्ठान निर्णय में पंचांग का कालविधान आधार रूप से सहायक होता है। क्योंकि सूक्ष्म पंचांग द्वारा ही शुभाशुभ काल का ठीक-ठीक निर्णय होता है। अत: पंचांग का दूसरा नाम कालदर्शक भी है। महर्षि नारद ने कहा भी है – ''विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्त्तं कर्म न सिद्धयति'' यह उक्ति पंचांग पक्ष में सम्यक् रूप से घटता है।

ज्योतिषशास्त्र में तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण को पंचांग कहते है। इस के महात्म्य में कहा गया

है कि –

तिथि: वारञ्च नक्षत्रं योग: करणमेव च।
पंचांगस्य फलं श्रुत्वा गंगास्नानं फलं लभेत।।

पंचांग का महत्व प्राचीनकाल से ही स्वीकृत है। वाजसनेयसंहिता में लिखा है – प्रज्ञानाय नक्षत्र दर्शनम्। 'यादसे गणकम्' इत्यादि वाक्यों से ज्योतिर्विदों का महत्व का प्रतिपादन होता है। वह ज्योतिर्विद निश्चय ही पंचांग का ज्ञान मौखिक रूप से या भोजपत्र या तालपत्र पर नक्षत्रों, ग्रहों को देखकर तथा आकाशीय स्थिति को देखकर धारण करता होगा। एक प्रसंग में कहा गया कि ऋषियों द्वारा कथित शुभकाल में कोई भी किया गया कार्य सफल होता है। किन्तु शुभकाल का ज्ञान बिना पंचांग के सम्भव नहीं है। अत: प्राचीनकाल में भी पंचांग का ज्ञान एवं महत्व सभी लोग अवश्य जानते रहे होंगे। वराहमिहिर ने वृहत्संहिता में सांवत्सरसूत्राध्याय में दैव की योग्यता बतायी है, जिससे स्थिति स्पष्ट हो जाती है। वेध नैपुण्य के साथ विभिन्न मान-प्रमाणों के सत्यासत्य परीक्षण का सामर्थ्य भी दैवज्ञ होना चाहिए। कालगणनादि के साथ समस्त प्रभाव शस्त्र भी इससे जुड़े हैं।

धर्मशास्त्र से पंचांग का सम्बन्ध अभिन्न है। जैसे – यज्ञ, उत्सव, पर्व, व्रत का सम्यक रूप से निर्धारण बिना पंचांग की सहायता से कैसे सम्भव हो सकता है? पंचांग के सहायता से ही रामनवमी, जन्माष्टमी, रक्षाबन्धन, विजयादशमी, दीपावली, होली, शिवरात्रि, मकर संक्रान्ति इत्यादि समस्त व्रत, पर्व एवं समस्त उत्सव का सम्यक निर्धारण होता है। आकाशीय आश्चर्यजनक घटनाओं में ग्रहण उल्कापात, अन्तरिक्षोत्पात इत्यादि प्रमुख है। हमारे धार्मिक समाज में ग्रहण का महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रहणकाल में स्नान, जप, दान का महत्व धर्मशास्त्रों में देखा जाता है। अत: भास्कराचार्य जी ने स्वग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में कहा है कि –

बहुफलं जपदानहुतादिकं स्मृति पुराणविद: प्रवदन्ति हि।
सदुपयोगि जने स चमत्कृति ग्रहणमिन्द्विनयो: कथयाम्यत:।।

इसी सन्दर्भ में आचार्य कमलाकर भट्ट ने भी कहा है कि –

यत्र स्नानाज्जपाद्होमाद्दानश्चेश्वरभक्तित:।
भूमिस्थितो नर: शीघ्रं सर्वपापै: प्रमुच्यते।।

उपर्युक्त श्लोकों द्वारा ग्रहणकाल का सम्यक् निर्धारण पंचांग द्वारा ही सम्भव है। संक्रान्ति, महावरूणी पर्व, पितरों का श्राद्ध तिथि, नवरात्रि में घटस्थापन मुहूर्त्त, यात्रा, वास्तु, गृहप्रवेश, राज्याभिषेक, अग्न्याधान, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन, विद्यारम्भ, समावर्तन, विवाहादि सभी प्रकार के संस्कार मुहूर्त्त का ठीक-ठीक ज्ञान इसके अभाव में

ज्ञात करना सम्भव नहीं है। सभी प्रकार के मुहूर्त्त का विचार पंचांग के द्वारा ही सम्पादित होते है। न केवल जीवित मनुष्यों का संस्कार अपितु मृत्युपश्चात् तिथियों से ही अनेक पितृकार्य होते हैं। सामान्य मनुष्यों के लिए भी दैनिक उपयोगी मुहूर्त्त जैसे – नूतन वस्त्र धारण, सुवर्ण प्रवालादि, रत्न आभूषण धारण, शस्त्रधारण, नृपर्शन, पशुक्रय, विक्रय, औषधि सेवन, पंचांग के अभाव में ठीक-ठीक जानना सम्भव नहीं है। हमारे कृषि प्रधान देश में किसानों के लिए बीजवपन, लतापादपारोपण, धान्यच्छेदन, कर्णमर्दन, सस्यरोपणादि समस्त कृषि कार्यों एवं ऋतुचक्र का ज्ञान, वृष्टिकाल ज्ञान आदि समस्त कार्यों में सफलता प्राप्ति के लिए शुभकाल का ज्ञान की आवश्यकता पंचांग द्वारा ही पूर्ण होता है। भारतवर्ष में कृषिकर्म वृष्टि पर ही आधारित है। यदि वृष्टि का सम्यक् पूर्वानुमान होता है, तो कृषकों के लिए महत्वपूर्ण उपकार होगा। प्राचीनकाल में वर्षा का पूर्वानुमान तिथि नक्षत्र वार, ग्रहस्थिति, सूर्यसंचार, नक्षत्राभिप्रायिक ग्रहसंचार आदि के द्वारा और वायु संचार तथा अष्टविध निमित्तों के परीक्षण से दैवज्ञ करते थे। यद्यपि आधुनिक यन्त्र प्रधान युग में आकाश में छोड़े गये कृत्रिम उपग्रहों के द्वारा वैज्ञानिक वर्षा का पूर्वानुमान करते है, फिर भी इनकी भूमिका खत्म नहीं हुई, सामाजिक कार्यों में जलाशय खनन, कुआँ, भवन निर्माण, स्थापत्य आदि में शुभकाल का निर्धारण पंचांग से ही होता है। इन प्रमाणों द्वारा निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य जीवन से प्रारम्भ होकर मृत्यु पर्यन्त जो भी संस्कार व्रत, पर्व, उत्सव आदि जो धर्म आचरण है वे सभी मुहूर्त्त पर ही आधारित है। दिग्देशकाल ज्ञान एवं इनकी सापेक्षता से पात्र का निर्धारण भूगोलीय अक्षांशदेशान्तरादि ज्ञान, दिग्ज्ञान, भूपृष्ठीय वातावरणादि समस्त तथ्य ज्योतिष शास्त्र की निष्पत्ति से पंचांग में भी प्रयुक्त होते हैं।

अभ्यास प्रश्न -1

1. ज्योतिषशास्त्रीय गणना का मूलाधार है –
   क. सूर्य ख. चन्द्र ग. भौम घ. सूर्य-चन्द्र
2. ज्योतिष वेदपुरूष का कौन सा अंग के रूप में जाना जाता है?
   क. नेत्र ख. मुख ग. कर्ण घ. पाद
3. ग्रहलाघव किसकी रचना है?
   क. राम दैवज्ञ ख. गणेश दैवज्ञ ग. केशव घ. भास्कराचार्य
4. निम्न में पंचांग का अंग नहीं है –
   क. तिथि ख. वार ग. नक्षत्र घ. ग्रहण
5. 'प्रज्ञानाय नक्षत्र दर्शनम्' कहाँ का वाक्य है

क. उपनिषद ख. वाजसनेय संहिता ग. पुराण घ. महाभारत

6. काल के मुख्य कौन से दो भेद है?

क. नित्य-अनित्य ख. दृश्य-अदृश्य ग. काल-विकराल घ. कोई नहीं

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पंचांग में मानव जीवन से जुड़े प्रत्येक व्रत, पर्व, उत्सव, संस्कार आदि का वर्णन द्रष्टव्य है। मानव जीवन के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त क्रियाकलापों का भारतीय वैदिक सनातन परम्परा के अनुरूप पंचांग में वर्णन प्राप्त होता है। न कि केवल व्रत, पर्व, उत्सव और संस्कार ही बल्कि आकाशीय ग्रह-नक्षत्रादि की स्थितियों का भी गणितीय उल्लेख प्राप्त होता है। यदि एक वाक्य में कहना चाहें तो ज्योतिषशास्त्र के समस्त विषयों का सारतत्व कहीं एक स्थान पर मिलता हैं, तो वह है पंचांग। वस्तुत: पंचांग में केवल पाँच अंग ही नहीं अपितु सिद्धान्त ज्योतिष के अन्तर्गत प्रमुख रूप से ग्रहस्पष्टीकरण, ग्रहों की स्थिति, ग्रहण, ग्रहोदयास्त, कालांश, दिनमान, तिथिमान, नक्षत्रमान, योग एवं करण मान, भ्रदादि विचार, ग्रहराशिसंचार, रेलवे अन्तर, अक्षांश, देशान्तर, चरान्तर, बेलान्तर, क्रान्तिमान, दैनिकलग्नसारिणी आदि का उल्लेख सम्यक् रूप से मिलता है।

फलित ज्योतिष के अन्तर्गत प्रमुख रूप से व्रतोत्सव, पर्व, प्रमुख तिथियाँ, मुहूर्त्त, विवाह, मेलापक, धर्मकार्य, श्राद्धादि निर्णय, नूतन कार्यादि का विचार मिलता है।

संहिता ज्योतिष के अन्तर्गत सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, समर्घ-महर्घ, फसल, दकार्गल, वास्तु, भौमान्तरिक्ष, उत्पात, प्राकृतिक आपदादि से सम्बन्धित समग्र तथ्यों का उल्लेख मिलता है।

भारतीयज्योतिषशास्त्र का मूलाधार आकाशीय ग्रहनक्षत्रों का गणित तथा वेध है। गणित के आधार पर सूर्य चन्द्रादि की स्थितियों का सही निर्णय कर गोलीयवेध से दृग्गणितैक्यजन्य समन्वय के द्वारा ग्रहों की वास्तविक दृष्टयुपलब्ध स्थिति ही, उनकी व्यावहारिक उपयोगिता का मूलाधार है। पर्व, धर्मकार्य, यात्रा, विवाह, उत्सवजातक तथा भविष्यफल की जानकारी हेतु ग्रहगणित की शुद्धता की परख पंचांगनिर्माण के द्वारा ही सिद्ध होता है। पंचांग के पाँचों अंग व्यक्त काल के प्रधानतत्व है। इनके ही आधार पर प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक एवं शास्त्रीयकार्य सम्पन्न होते हैं। भारतीयसिद्धान्तज्योतिष की अपनी विशेषता भी है।

जिस शास्त्र के अन्तर्गत ग्रहनक्षत्रों के गणित गोलीयप्रभाव एवं उनकी विशेषताओं का सांगोपांग वर्णन हो, वह ज्योतिषशास्त्र कहलाता है। विभिन्न राशियों नक्षत्रों में सूर्यचन्द्र आदि के परिभ्रमण से 'काल' की गणना तथा पर्यवेक्षण से इसका ज्ञान होता है। सृष्टिकल्प के प्रारम्भ में सभी ग्रह राशिवृत्त

के आदि बिन्दु पर थे। अपनी-अपनी कक्षाओं में कक्षाओं के लघु एवं वृहदाकार भेद के कारण बिम्ब के व्यास के लघु तथा वृहद् दृश्य होने से तीव्र मन्द एवं मध्यम प्रतीत होने वाली गतियों का अध्ययन करने वाले ज्योतिषी तथा उनकी सैद्धान्तिक गणना करने वाले गणक कहलाए। इन गोलीयबिम्बों का अध्ययन के विविध भेद ही ज्योतिषनाम से प्रसिद्ध हुआ तथा इनके वार्षिक गणितीय विवरण 'पंचांग' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक श्री सर्वेश्वर के सृष्टयुत्पादन पालन संवरण की सतत् संचरण परिवर्तन परिवर्द्धमान परम्परा में स्थावर जंगमादि ही नहीं वरन् प्रत्येक प्राणीमात्र भी इस काल की गतिशीलता से प्रभावित है। 'कालस्तु कलनात्मक:' अर्थात् गणनात्मक। इसी काल की गणना अनादि काल से ज्योतिष के माध्यम से की जा रही है।

वेद के षडंगों में ज्योतिषशास्त्र का अद्वितीय स्थान है। पाणिनि ने अपने शिक्षा ग्रन्थ में इसे वेद का नेत्र कहा है – ज्योतिषामयनं चक्षु:। वेदों में सूर्य चन्द्रमा तथा अन्य नक्षत्रों की देवस्वरूप में स्तुतिपरक ऋचायें प्राप्त होती है। ब्राह्मण ओर आरण्यक ग्रन्थों में ग्रह-नक्षत्रों के गुणस्वरूप प्रभावादि के रहस्योद्घाटनात्मक चिन्तन किया गया है।

ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान की यह अजस्र धारा ब्रह्मादि परमाचार्यों से लेकर पराशर महर्षि तक अष्टादश महामुनियों का गम्भीर चिन्तन लेकर प्रवाहित होती रही है। अष्टादशैते गम्भीरा जयोति: शास्त्र प्रवर्त्तका:।।

इन आचार्यों के परवर्ती ऋषिकल्प शास्त्र सागर के पारंगत विशिष्ट विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों यथा- वराहमिहिराचार्य ने ईसा से 148 वर्ष पूर्व पंचसिद्धान्तिका, वृहत्संहिता, वृहज्जातक, श्रीपति ने जातकपद्धति, वल्लालसेन ने अद्भुतसागर, नारायण दैवज्ञ ने मुहूर्त्तमार्तण्ड, गणपति ने मुहूर्तगणपति, भर्तृहरि ने राजमार्तण्ड में संहितोक्त विषयों का दिग्देशकालानुसार जन समूह के कल्याणार्थ सरल पद्धति में प्रस्तुतीकरण किया है।

ज्योतिष शास्त्र को जानने के लिए मुख्यत: इसके दो भाग किए गए - गणित और फलित। पश्चात् यह स्कन्धत्रय के नामों से विभाजित होकर जाना जाने लगा। सिद्धान्त, संहिता और होरा इन तीन नामों से ज्ञात होने के कारण इसे स्कन्धत्रय भी कहते हैं। सम्प्रति उक्त विभाजन ने पंचांत्मक (होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त) रूप को धारण कर लिया है।

ज्योतिष शास्त्र के समस्त सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन हो जाने पर भी प्रायोगिक स्थल में जिसके बिना एक ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता भी अभाव का अनुभव करता है वह है – पंचांग। वस्तुत: पंचांग को यदि हम आधुनिक भाषा में कहे तो वह एक ज्योतिषी का कम्प्यूटर है।

इस प्रकार देखा जाये तो पंचांग की उपयोगिता मानव जीवन में सर्वतोभावेन दिखलाई पड़ती है। मानव को उसके जीवन से जुड़े पग-पग पर पंचांग उसके लिए वरदान साबित हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है, सामान्य मनुष्य को भी इसकी जानकारी होनी चाहिए, जिससे वह इसके महत्व को समझते हुए उसका जीवन में उपयोग कर सके।

निम्नलिखित रूप से पंचांग के महत्व को समझा जा सकता है –

1. तिथि ज्ञान में
2. वार ज्ञान में
3. नक्षत्रों के बोध में
4. योग के बोध में
5. ग्रहगणित बोध में
6. ग्रहण बोध में
7. विभिन्न शुभाशुभ मुहूर्त्तों के ज्ञान में
8. दैनन्दिन ग्रहों की स्थिति ज्ञान में
9. वास्तु सम्बन्धित ज्ञान में
10. प्राकृतिक एवं अन्तरिक्ष सम्बन्धित रहस्यों की जानकारी में
11. वैश्विक स्थिति के ज्ञान में
12. मानव के दैनन्दिन जीवन से जुड़े अनेक क्रियाकलापों में
13. जन्मकुण्डली निर्माण तथा फलादेशादि कर्तव्यों में
14. व्रत-पर्व निर्धारण में
15. मूल रूप से समग्र ज्योतिष शास्त्र(सिद्धान्त, संहिता, होरा, प्रश्न, शकुन आदि) के सारतत्व ज्ञान बोध में।

उपर्युक्त सभी विधाओं में पंचांग की उपयोगिता परिलक्षित होती है। पंचांग मूलत: मानव-मात्र के जीवन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा है। अत: मनुष्य पंचांग का ज्ञान प्राप्त कर जीवन को भी उपयोगी बना सकता है।

5.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि पंचांग शब्द स्वयं ही अपना परिचय देता है। पाँच अंगों का समवेत स्वरूप ही पंचांग है। उन पाँच अंगों के नाम क्रमश: इस प्रकार हैं – तिथि, वार, नक्षत्र योग एवं करण। इन पाँचों अंगों के आधार पर किसी भी शुभकार्य हेतु शुभ समय का निर्णय किया जाता है। जहाँ ये अंग हमें शुभाशुभ समय का ज्ञान करातें हैं वहीं हमें आकाश दर्शन में भी सहायक होते हैं। इन अंगों के निरूपण के साथ-साथ ग्रहों की गति, स्थिति एवं चार का ज्ञान पंचांग के माध्यम से अत्यन्त सरल ढंग से किया जाता है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि आकाशीय घटनाओं के साथ-साथ उनके परिणामों का भी उल्लेख कर अधिकाधिक लोगों को अवगत कराया जा सके। इस दृष्टि से ज्योतिष के सिद्धान्त, संहिता एवं होरा स्कन्धों के अनेक व्यावहारिक विषयों का समावेश आधुनिक भारतीय पंचांगों में होने लगा है। आज पंचांग ज्योतिष सम्बन्धी अनेक विषयों का महत्वपूर्ण संकलन भी है। यदि कोई व्यक्ति केवल पंचांगों का ही अध्ययन कर ले तो वह अनेक व्यावहारिक विषयों का ज्ञाता हो सकता है। यही कारण है कि आज पंचांग हमारी जीवन पद्धति के अंग बन चुके हैं।

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

पंचांग – तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण रूपी पाँच अंगों के समाहार को पंचांग कहते है।

तिथि – सूर्य एवं चन्द्रमा के द्वादश अंशात्मक गत्यन्तर को तिथि कहते है।

वार – रव्यादित: शनिवार पर्यन्त सप्त वार होते हैं।

भगण – १२ राशियों का एक भगण होता है।

नक्षत्र – न क्षरतीति नक्षत्रम्। अश्विनी से रेवती पर्यन्त २७ नक्षत्र होते हैं।

योग – सूर्य एवं चन्द्र के योग से योगों की उत्पत्ति होती है। आनन्दादि एवं विष्कुम्भादि दो प्रकार के योग होते हैं।

करण – एक तिथि में दो करण होते हैं।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 का उत्तर

1. घ
2. क
3. ख
4. घ

5. ख

6. क

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय ज्योतिष – श्री शंकरबालकृष्णदीक्षित

2. आधुनिक पंचांग दर्शन – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

3. संवत्सरावली – टीका – पण्डित हीरालाल मिश्र:

4. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र

5. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

5.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. भारतीय ज्योतिष - डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री

2. पंचांग विज्ञानम् – प्रोफेसर भास्कर शर्मा

3. पंचांग समिति का प्रतिवेदन – पंडित दीनानाथ शास्त्री चुलैट

4. वैजयन्ती पंचांग गणितम् – डॉ0 भास्कर शर्मा

5. शास्त्रशुद्ध दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा, कार्य परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पंचांग का विस्तृत वर्णन कीजिये।

2. मानव जीवन में पंचांग की उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।

3. पंचांग का क्या महत्व है?

4. पंचांग से क्या-क्या ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? स्पष्ट कीजिये

खण्ड - 2

पंचांग साधन एवं प्रकार

इकाई - 1 तिथि साधन

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 तिथि परिचय

1.3.1 तिथि साधन

1.3.2 तिथियों का नाम, स्वामी तथा संज्ञाये

1.4 तिथि साधन में विशेष

1.5 सारांश

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई -103 के द्वितीय खण्ड की पहली इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – तिथि साधन। इससे पूर्व की इकाईयों में आपने पंचांग के बारे में अध्ययन कर लिया है। अब आप पंचांग के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने जा रहे हैं।

तिथि पंचांग का प्रथम अंग के रूप में सर्वविदित है। तिथि की उत्पत्ति सूर्य एवं चन्द्रमा की गति के फलस्वरूप होता है। जब चन्द्रमा अधिक गति के कारण सूर्य से 12^0 आगे निकल जाता है, तभी तिथि का बोध होता होता है।

आइए इस इकाई में तिथि का ज्ञान करते हुए उसके गणितीय अवयवों को भी समझने का प्रयास करते है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान जायेगें कि –

- तिथि किसे कहते है।
- तिथि का मान कितना होता है।
- तिथि के गणितीय अवयव क्या है।
- तिथि का साधन कैसे किया जाता है।

1.3 तिथि परिचय

तिथि का अन्वेषण ऋषि परम्परा में ज्योतिष शास्त्र के लिए अपूर्व उपलब्धि मानी गयी। तिथि निर्धारण से ही सूर्य और चन्द्रमा के सभी प्रकार के सम्बन्ध सुव्यवस्थित हो सके। सूर्योदय के बाद सूर्यास्त तत्पश्चात् पुन: पुन: सूर्योदय एवं सूर्यास्त। इसमें कहीं ऐसा मानक नहीं था जिसे स्थिर बिन्दु मान कर सम्बन्धों का सत्यापन हो सके। वैदिक ऋषि प्राकृतिक यज्ञ को भी उतनी ही तन्मयता से समझता था जितनी तन्मयता से उपकरण वैध यज्ञ को जानता था। अरण्य या सरस्वती नदी के तट पर निरभ्र या साभ्र आकाश के नीचे प्रतिदिन सूर्य (दिनेश) का निकलना और ढलना (सूर्यास्त) ऋषिगण अपनी आँखों से देखते रहे। दिन में समस्त वातावरण प्रकाश स्नात होता रहा और रात्रियाँ अंधकारपूर्ण होती रहीं। इन रात्रियों की दो प्रकार की स्थितियाँ बनती रहीं – प्रकाश पूर्ण रात्रियाँ और अन्धकारपूर्ण रात्रियाँ। इन रात्रियों ने ही वैज्ञानिक मन को सोचने के लिए विवश किया। पूर्णिमा की सांध्यवेला में पूर्वी क्षितिज पर पूर्ण चन्द्र का दिखलायी देना और धीरे धीरे प्रतिदिन उसका क्षीण होना निरन्तर ध्यान में आता रहा। ऐसा प्रतीत होने लगा कि चन्द्रमा पूर्णता को पन्द्रहवें दिन प्राप्त कर रहा

है। इसीलिए उस तिथि या रात्रि को पूर्णा या पूर्णिमा कहा गया। क्या आकाश में पन्द्रह चन्द्रमा उगते हैं? अथवा एक ही चन्द्रमा पन्द्रह प्रकार का स्वरूप धारण करता है? ऋषि ने कहा नहीं, नहीं, एक ही चन्द्रमा पंचदशी की रात्रि में पूर्णता प्राप्त करता है और दूसरी पंचदशी की रात्रि में क्षीण हो जाता है। इस प्रकार से यह सुनिश्चित तथ्य सामने आ सका कि चन्द्रमा एक ही है –

चन्द्रमा वै पंचदश:। एष हि पंचदश्यामपक्षीयते। पंचदश्यामापूर्यते।

(तै0 ब्रा0 १/५/१०)

पूर्णिमा तिथि एक मानदण्ड बन सकी। पूर्णिमा से ठीक तीसवीं में चन्द्रमा पूर्ण आकार में आकाश में दिखलायी देता है ऐसा निश्चित हुआ। पूर्णिमा में शरद ऋतु से लेकर जाड़े तक सूर्यास्त के आसन्न ही पूर्ण बिम्ब दृश्य होते ही बहुवृच ब्राह्मण का ऋषि निर्धारित कर सका –

यां पर्यस्तमियादभ्युदियादिति सा तिथि:।

अनुमानत: तिथि की यह पहली परिभाषा, पहला लक्षण निर्धारित किया जा सका – चन्द्रमा जिसमें उगता और अस्त होता है उसे तिथि कहते हैं। यह प्राचीनतम युग की श्रेष्ठतम परिभाषा थी। तिथि की अन्य जितनी परिभाषायें हैं उनमें तब तक यह निश्चित हो चुका था कि सूर्य और चन्द्रमा की बारह अंश की दूरी एक तिथि को सृजित करती है।

वैदिक ऋषियों के सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति के कारण पूर्णिमा और अमावस्या के चन्द्रमा के स्थिति को नियत किया जा सका। जिस दिन चन्द्रमा पूर्ण बिम्ब के रूप में आकाश में दिखलाई देता है उस दिन वह आकाश में नियत मास के नियत नक्षत्र में स्थित रहता है। यह अनुवर्तन प्रत्येक चान्द्रमास की प्रत्येक पूर्णा तिथि में होता है यह गणित सत्य है। चन्द्रमा २७.३ दिनों में २७ नक्षत्रों का चक्कर लगा लेता है। एक चान्द्रमास २९.५३ दिनों का होता है। फलत: एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा आने में दो नक्षत्र अधिक भोग कर जाता है चन्द्रमा। यह भी गणित सिद्ध होने के कारण महत्वपूर्ण है। मध्यवर्ती तिथियों में भी चन्द्रमा का तारतम्य बना रहता है।

निष्कर्षत: तिथि की खोज खगोल जगत् की एक विराट खोज थी। यह चन्द्रमा के दृश्यत्व से सम्बन्धित थी और पूर्णिमा और अमावस्या के द्वारा नियन्त्रित भी। चतुर्दशी, पूर्णिमा और कृष्णप्रतिपदा तथा चतुर्दशी, अमावस्या और शुक्ल प्रतिपदा इन तीन तिथियों में सूक्ष्म अन्तर होने के कारण इनका निर्धारण गणित द्वारा ही संभव था। वैसे आरम्भ में यह स्थूल रूप से निर्धारित हुआ कि मध्यम मान से रात्रिमान यदि ३० घटी का है और उसमें पन्द्रह कलाओं से पूर्णचन्द्र उदित होता है तो एक कला का दृश्यकाल २ घटी के आसन्न होगा। यद्यपि बाद में चन्द्रमा के प्रतिदिवसीय उदय के सम्बन्ध में सूक्ष्म गणित का आनयन होने लगा, पर उस प्रक्रिया को उदयास्त एवं चन्द्र श्रृंगोन्नति में

विचारार्थ लिया गया। निरन्तर अध्ययन के आधार पर निर्धारित हो सका कि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि में रात्रि में चन्द्रमा का दर्शन नहीं होगा। हाँ, प्रतिपदा यदि सूर्यास्त से पूर्व समाप्त हो रही हो तो उसी रात्रि में चन्द्रदर्शन हो जायेगा। इस प्रकार से तिथि प्रधान धर्मशास्त्रीय जगत् में चान्द्रदिनों का महत्व इतना अधिक बढ़ा कि वार, नक्षत्र एवं योग आदि का महत्व उसके सामने गौण हो गया। आज धर्मशास्त्र और ज्योतिष के सम्बन्ध को निर्धारित करने में तिथि मेरूदण्ड के रूप में स्थित है।

तिथि आनयन की गणितीय प्रक्रिया ग्रहलाघवादि ग्रन्थों में स्पष्टता के साथ कही गयी है। गणित द्वारा भोग्य और भुक्त तिथि का आनयन आसान है। पंचांग निर्माण के समय पूर्णिमा तिथि में तीन चीजें एक साथ आकर उपस्थित हो जाती हैं – १. सूर्य और चन्द्र की स्पष्ट स्थिति छ: राशि की दूरी पर होती है, २. चित्रा आदि प्रधान नक्षत्र का पूर्णिमा से स्पर्श होता है और ३. पूर्णिमा का घटयादि मान जितना अधिक होता है सूर्य-चन्द्र का अंश मान उतना अधिक साम्य रखता है। इन तीनों परिस्थितियों को वैदिक युग में ही ऋषिगण समझ चुके थे। अमावस्या तिथि में तो गणितीय सौन्दर्य का दर्शन होता है, जब सूर्य और चन्द्रमा का राशि, अंश कला तक का साम्य हो जाता है। यही एक ऐसा स्तम्भ होता है जो बतलाता है कि आज चन्द्रमा ने अपना सारा तेज सूर्य को समर्पित कर दिया है। दोनों एक हो गये हैं। इसीलिए अमावस्या की परिभाषा बनी – 'दर्श: सूर्येन्दु संगम:' अर्थात् सूर्य और चन्द्र के संगम को दर्श (अमावस्या) कहते हैं।

वसिष्ठ संहिता में इसी बात को श्लोकबद्ध किया गया है –

सूर्यान्निर्गत्य यत्प्राचीं शशी याति दिने दिने।
लिप्तादिसाम्ये सूर्येन्दु तिथ्यन्तेऽर्कांशकैस्तिथि:।।

सूर्य से बाहर निकल कर पूर्व दिशा की ओर चन्द्रमा जैसे –जैसे बढ़ता है वैसे –वैसे तिथि बढ़ती है। अमावस्या तिथि में राशि,अंश और कला का साम्य होता है दोनों के बीच। अमावस्या से आगे यह अन्तर हमेशा १२ अंश का होता है। यानी एक तिथि १२ अंश की होती है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है कि सूर्य का पिण्ड अपनी ओर चन्द्रमा को खींचता है। चन्द्रमा में अमृतत्व ज्यादा होता है जिसे अमावस्या में सूर्य के साथ रहकर चन्द्रमा नष्ट कर लेता है। पुन: पूर्णिमा तक वह उसे प्राप्त करता है। यह आख्यान गूढ़ अर्थ रखता है।

तिथि की दूसरी उत्तम परिभाषा आयी – 'तन्यन्ते कलया यस्मात् तस्मात् तास्तिथय: स्मृता:' चन्द्रकला का विकास जिसमें हो उसे तिथि कहते हैं।

कतिपय अंग्रेज विद्वानों ने और उनके अन्धानुगामी भारतीय चिन्तकों ने कहा कि वेदों में तिथि शब्द और प्रतिपदादि तिथियाँ नहीं मिलतीं। पूर्णा को पंचदशी और अमा को भी पंचदशी वेदों में कहा गया

है। अत: एक एक दिन का चन्द्रमा अलग से अवश्य उक्त रहा होगा। वेद वैसे भी ज्योतिष के कोष ग्रन्थ नहीं हैं कि एक एक सूक्ष्म चीजें उनमें उक्त रहेंगी। यदि पौत्र का नाम आया है तो पिता का भी नाम अवश्य रहा होगा। तिथि शब्द का सीधा सम्बन्ध चन्द्रमा से है। तिथि का शरीर चन्द्रमा के ही कारण बढ़ता और घटता है। अत: अपने जन्मकाल में ये तिथियाँ रात्रि वाचक रहीं, परन्तु अविलम्ब ही जैसे जैसे इनका सूक्ष्मरूप और गणितागतरूप सामने आने लगा ये चान्द्रदिन वाचक हो गयीं। इस क्रम में अधिक वर्ष लगे होंगे ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है।

प्रो. एम. एन. साहा और मि0 एन0सी0 लाहिड़ी ने पंचांग सुधार का प्रतिवेदन तैयार किया। इस ग्रन्थ में मिस्टर लाहिड़ी ने अध्याय तीन का आरम्भ इस प्रकार से किया है – प्राचीन काल में अकेले मिस्र निवासी ही सभ्य देशों में प्रतीत होते हैं जिन्होंने चन्द्रमा को समय निर्धारक के रूप में पूर्णत: उपेक्षित कर दिया। उस समय के दूसरे सभ्य देशों के निवासियों ने अर्थात् बेबीलोनिया के सुमेरो अकादियन तथा वैदिक भारतीयों ने चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों को समय सूचक के रूप में स्थिर रखा। सूर्य को वर्ष के लिए तथा चन्द्रमा को मास के निर्धारण के लिए इन लोगों ने रखा। इस कथन से दो तथ्य उभर रहे हैं - १. काल (समय) निर्धारण में चन्द्रमा की उपेक्षा करने वाला देश सभ्य कहलाता है और २. प्राचीनकाल से इनका आशय है ईसा पूर्व एक हजार वर्ष। भारतीयों को नीचा दिखाने के लिए तथा बेबीलोनियन संस्कृति को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए अंग्रेजों और उनके समर्थक कम्युनिष्ट इतिहासकारों के पास ईसा पूर्व का एक हजार वर्ष हथियार के रूप में काम करता है। सत्यता यह है कि महाभारत ईसा पूर्व ३१०२ वर्ष पहले घटित हो चुका था। भारतीय वैदिक ज्योतिर्विदों ने महाभारत पूर्व (कई हजार वर्ष पहले) ही सौर –चान्द्र सावन आदि मानों से उत्पन्न परिणाम का आपसी सामंजस्य स्थापित कर लिया था, अन्यथा वेदकाल में सौरवर्षों के साथ सामंजस्य के लिए ढ़ाई वर्षों में एक अधिमास की कल्पना क्यों करनी पड़ती? ऋग्वेद में अधिमास की सूचना कैसे होती?

वेदो यो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत:। वेदा य उपजायते। (ऋग्वेद १/२५/८)

इस तथ्य से हमारा मात्र इतना प्रतिपाद्य है कि तिथि की उत्पत्ति विश्व में वैदिक ऋषियों ने तब ज्ञात कर ली थी जब बेबीलोन, काल्डियन, मिस्र, सार्गन, सुमेरियन या अन्य किसी भी सभ्यता का अता – पता भी नहीं था।

एण्टन पेनकोक ने अप्रैल १९३० ई0 में जर्नल ऑफ दि रायल एस्ट्रोनामिकल सोसाइटी ऑफ कनाडा में एस्ट्रोलाजी एण्ड इट्स इन्फ्लूयेन्स अपान दि डेवलपमेंट ऑफ एस्ट्रानामी निबन्ध में लिखा है कि –प्राचीन काल में भारतीय, बेबीलोनियन, ग्रीक, यहूदी एवं अन्य सभी सभ्यताओं के ज्योतिर्विद

चान्द्रपंचांग ही प्रयोग में लाते थे। चन्द्रमा का समय, सायंकाल आकाश में प्रथम बार चन्द्रमा की सूक्ष्म कला का उदय, इसकी प्रथम चतुर्थांश तक वृद्धि, पुन: पूर्ण बिम्ब तक वृद्धि एवं सम्पूर्ण रात्रि में व्याप्ति एवं इसके बाद अन्तिम कला तक ह्रास तथा सूर्योदय के समय अन्तिम कला के दर्शन के बाद अस्त होना आदि को देखते हुए २९. १/२ दिन में चान्द्र समय को ३६५ दिन के सौर वर्ष के अनुकूल बनाने की व्यावहारिक आवश्यकता उत्पन्न हुई। प्राचीन समय गणना की यह मुख्य समस्या ज्योतिर्विद्या के अध्ययन में एक मुख्य प्रेरणा रही, क्योंकि इससे आकाश के सतत वेध की आवश्यकता उत्पन्न हुयी।

पेनकोक ने अपने इस निबन्ध में प्राचीन गवेषणाओं के महत्व को उद्घाटित किया है, जबकि भारत के एस्ट्रोनामीविद् लाहिड़ी आदि ने तिथि (चान्द्रवर्ष) और उसके प्रचलन को निकृष्ट सिद्ध करने की कोशिश की है। क्या तिथियों और चान्द्र वर्षों को फेंक दिया जाए? क्या सौर और चान्द्र के सामंजस्य का परित्याग कर केवल ३६५ दिन वाले वर्ष और अंग्रेजी दिनांकों को अंगीकार कर लिया जाए? क्या नौ प्रकार के कालमान और उनका परस्पर सामंजस्य निरर्थक है? ऐसा कुछ भी नहीं है। सारी प्राकृतिक घटनायें और गणनायें अपनी जगह पर महत्वपूर्ण हैं। उनका परस्पर सामंजस्य अत्यावश्यक है। इस कार्य को भारतीय ज्योतिर्विदों ने पूर्णता के साथ किया।

पंचांग के अवयवों पर विचार करते समय तिथि को शरीर माना गया है। शरीर शुद्ध और बलवान होने पर ही प्रबलता की कामना की जाती है। तिथि में दोष उत्पन्न हो जाने पर चन्द्र बल, लग्न बल और ग्रहबल काम नहीं देता। मुहूर्त्त के निर्धारण में तिथि की चर्चा सर्वप्रथम की जाती है –

सर्वत्र कार्येषु शुभाशुभेषु पृच्छन्ति लोके तिथिमेव पूर्वम्।
न क्वापि योगं करणं ग्रहं वा तस्मात् तिथेर्मुख्यतरत्वमुक्तम्।।

वस्तुत: यह एक विचार था जो मुहूर्त्तग्रन्थों में तिथि के महत्व को उद्घाटित करता था। मुहूर्त्त ग्रन्थों की वर्णन प्रक्रिया में कभी तिथि को श्रेष्ठ तो कभी चन्द्र और नक्षत्र को श्रेष्ठ माना गया है। यहाँ कहने का आशय यह है कि तिथि की खोज रात्रिगत चन्द्रस्थितियों से सम्बन्धित थी जो आँखों से दृश्य थी। नक्षत्रों का भी सीधा सम्बद्ध चन्द्र से है, बल्कि केवल चन्द्र से ही है पर अपेक्षाकृत जटिल और सूक्ष्म है। आरम्भिक स्थिति में ज्योतिष विषयक ज्ञान के अन्वेषण में यह सुनिश्चित है कि नक्षत्रज्ञान से बहुत पहले तिथि ज्ञान हो चुका था। तिथियों का स्पष्ट दर्शन चन्द्रमा के रात्रिगत अस्तित्व से होता था। अत: तिथियों ने पहले ध्यान आकृष्ट किया था। सूर्य चन्द्र का वियोगात्मक मान तिथि है। सूर्य चन्द्र का संयोगात्मक मान 'योग' है। चन्द्र का प्रविभागात्मक मान १३ अंश २० कला नक्षत्र है। सूर्य का प्रतिदिवसीय उदयात्मक मान वार है। सूर्यचन्द्र का परस्पर वियोगात्मक अर्धविभाग मान करण है।

इन्हें ही पंचांग कहते हैं।

अभ्यास प्रश्न – 1

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये -

1. दिनेश ..... का पर्याय है।
2. सूर्यचन्द्रान्तरांश १२° होने पर ..... की उत्पत्ति होती है।
3. चन्द्रमा और सूर्य का संगम ..... तिथि को होता है।
4. एक तिथि में ..... अंश होता है।
5. तिथि की गणना ..... से आरम्भ होती है।
6. द्वादशी तिथि ..... संज्ञक होता है।
7. तृतीया तिथि का स्वामी ..... होता है।

कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि ने भी ऋषियों को तिथि समूह या तिथियों के मासों को नियंत्रित करने में मदद की। रात्र्यर्द्ध में चन्द्रमा का उदय कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि में होता है। यह आधा प्रकाशित और आधा विच्छाय, फीका दिखता है। इसे वेदों में अष्टका तिथि के नाम से कहा गया है। तिथि सम्बन्धी सभी सूक्ष्म विषयों पर गहन विचार वेदकाल में सम्पन्न हो गया था। आज जिन विषयों पर विचार नहीं हो रहा है उन विषयों पर भी वेदों में संकेत हैं। वैदिक ऋषि केवल इतना नहीं मानते कि चन्द्रमा का दृश्य होना या अदृश्य होना तिथि शरीर को निर्देशित करता है, बल्कि चन्द्रमा की किरणों में जो तत्व है वह सूर्य किरणों से सर्वथा भिन्न है। चन्द्र किरणें सृष्टि में शुष्कता के भीतर आर्द्रता का संचार करती है। चन्द्र किरणें सृष्टि में शुष्कता के भीतर आर्द्रता का संचार करती हैं। सूर्य और चन्द्र की किरणों के परस्पर आदान –प्रदान से सूर्य को भी उतनी ही संजीवनी शक्ति मिलती है जितनी चन्द्रमा को सूर्य से मिलती है।

इन तिथियों पर देवताओं का अधिकार होता है यह विषय उत्तरवर्ती युग में स्थापित किया गया। आज भी पूर्णिमा और अमावस्या को लेकर भारतीय ज्योतिष में दो प्रकार के स्पष्ट मत हैं – १. पूर्णिमा ही तिथि (चान्द्र) मास को पूर्णता देती है और २. अमावस्या तिथि (चान्द्र) मास को पूर्णता देती है। इन दोनों मान्यताओं को लेकर मासान्त के दो विभाग आज भी बने हुए हैं – पूर्णान्तमान और अमान्तमान। वस्तुत: पूर्णा और अमा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। लोक में आज भी यह मान्यता है कि मधुमक्खियाँ शुक्लपक्ष में मधु संचय करती हैं और कृष्णपक्ष में मधुपान करती हैं। यही पूर्यते – क्षीयते का सिद्धान्त है। वैसे ही प्रकृति में निरन्तर यह क्रम चलता है। ज्योतिषशास्त्र के अधिकांश

ग्रन्थों में पूर्णिमा को पन्द्रहवीं और अमावस्या को तीसवीं तिथि माना गया है।

1.3.1 तिथि साधन

तिथि को स्पष्ट जानने हेतु एक आसान और सीधी सूत्रात्मक विधि अपनायी गई। यदि स्पष्ट सूर्य ११/११/७/५२ हो और स्पष्ट चन्द्र १०/२७/३४/२ हो और सूर्य की गति ५९/२९ तथा चन्द्र गति १३/४२/१० हो तो **तिथि का आनयन** निम्नलिखित प्रकार से होगा –

व्यर्क विधु: अर्थात् चन्द्र – सूर्य

१०/२७/३४/२
- ११/११/७/५२
११/१६/२६/१० (चन्द्र से सूर्य का मान अधिक होने पर उसमें १२ - राशि जोड़ लेते हैं।)

इसे अंशात्मक बनाया जाता है –

११ × ३० + १६/२६/१० = ३४६ /२६/१०

एक तिथि १२ अंश की होती है। अत: इसमें १२ का भाग देने पर

$$\frac{३४६/२६/१०}{१२}$$

= २८ गत तिथि और शेष मान १०/२६/१०

शेष भुक्तमान है। इसे १२ अंश में से घटाने से भोग्य मान होगा।

१२/००/००
- १०/ २६/१०
०१/३३/५० भोग्य मान

सूर्य चन्द्र का गत्यन्तर

१३/४२/१०
- ००/५९/२९
१२/४२/४१ गत्यन्तर

$$\text{वर्तमान तिथि} = \frac{६० \times \text{भोग्य मान}}{\text{गत्यन्तर}}$$

$$= \frac{६० \times १/३३/५०}{१२/४२/४१} = ७/२२$$

इसे मिश्रमान ४६/६ में भोग्य होने से जोड़ा गया तो

४६/६

\+ ७/२२

५३/२८ कृष्ण चतुर्दशी तिथि का स्पष्ट मान प्राप्त हुआ। इसी प्रकार से पृथक् पृथक् ग्रन्थों से तिथि का आनयन किया जाता है।

तिथि की उपपत्ति – एक माह में कुल ३० तिथियाँ होती हैं। इनका परिभ्रमण काल ३६०° में पूर्ण होता है। अत: १ तिथि = ३६०° ÷ ३० = १२°। इससे तिथि का मान १२ अंश होता है। इसे कला में बदला जाए तो १२° × ६० = ७२० कला। इसे ही सूर्यसिद्धान्त नामक ग्रन्थ में 'खाश्विशैलास्तथा तिथे:' कहा गया है। ३६०° को कला में बदलने पर ३६० × ६० = २१६०० इसे चक्रकला कहते हैं। इसमें तिथि संख्या ३० से भाग देने पर

२१६०० ÷ ३० = ७२० कला।

अत: १ तिथि का मान १२° या ७२० कला होता है।

तिथि साधक सूत्र –

$$\frac{\text{चं.} - \text{र.}}{१२^\circ} = \frac{\text{अन्तरांश}}{१२^\circ} = \text{लब्धि} + \frac{\text{शे.अ.}}{१२^\circ}$$

शे.अ. = भुक्ततिथिकला।

लब्धि = गततिथि।

१२° – शे.अ. = तिथिभोग्यांश शेष।

तिथि के घटयात्मक मान के लिए अनुपात करने पर यदि चन्द्र सूर्य गत्यन्तर में ६० घटी हो तो भुक्तांश या भोग्यांश क्या?

$$\frac{\text{तिथिभुक्तांश} \times ६० \text{ घ.}}{\text{चन्द्रगति} - \text{सूर्यगति}} = \frac{\text{ति. भु.} \times ६० \text{ घ.}}{\text{चन्द्रगति} - \text{सूर्यगति}} = \text{भुक्त घटयात्मक मान।}$$

$$= \frac{\text{तिथिभोग्यांश} \times ६० \text{ घ.}}{\text{र.च. गत्यन्तर}} = \text{ल.} + \frac{\text{शे}}{\text{ग.अ.}} = \text{घटयात्मकभोग्यमान।}$$

भुक्तघटी + भोग्यघटी = पूर्ण तिथिभोग।

उदाहरण –

सूत्र के परिप्रेक्ष्य में ७ -१५° – २५ – ३५ स्पष्टचन्द्र -१-१५°-२५-३५ स्पष्ट सूर्य। दोनों का अन्तर = ६ राशि।

६ × ३०° = १८०° । १८०° ÷ १२ = १५वीं पूर्णिमान्तकाल। घटयादिमान पूर्वसूत्र से सुगमता से ज्ञात होता है।

1.3.2 तिथियों का नाम, स्वामी तथा संज्ञायें

प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी,दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पंचदशी ये १५ तिथियाँ दोनों पक्षों (कृष्ण व शुक्ल पक्ष) में नाम से समान होती है। शुक्लपक्ष में १५ वीं पूर्णिमा एवं कृष्णपक्ष में १५ वीं तिथि को अमावस्या ३० वीं तिथि कहते है। शुक्लप्रतिपदा से कृष्णपक्ष की अमावस्या तक कुल ३० तिथियाँ सूर्य चन्द्र की एक युति से अग्रिमयुति पर्यन्त कालगणना ही तिथिसाधन का मुख्य आधार है। सूर्य से चन्द्रमा का प्रतिदिन का अन्तर १२° होने पर एक तिथि होती है। यही अंशान्तर अंशात्मक तिथिभाग प्रतिदिवसीय गत्यन्तर से सम्पन्न होती है।

प्रतिपदा से पूर्णिमा तक क्रमश: १. अग्नि २. ब्रह्मा ३. गौरी ४. गणेश ५. सर्प ६. कार्तिकेय ७. सूर्य ८. शिव ९. दुर्गा १०. यम ११. विश्वदेव १२. विष्णु १३. कामदेव १४. शिव १५ के चन्द्रमा एवं ३० के पितर कहे गये हैं। चन्द्रमा को पंचदशी तिथि का स्वामी मानना वेद काल के विचारों का प्रभाव है। जैसे –जैसे तिथियों पर चिन्तन बढ़ा वैसे-वैसे सूक्ष्म अंश विचारों में उपनिबद्ध हुए। पूर्णिमा और अमावस्या की भी दो स्थितियाँ बनती हैं। पूर्णिमा तिथि में रात्रिपर्यन्त पूर्णिमा का घटयादिमान स्थित हो उसे 'राका' कहा गया। पूर्णिमा तिथि में प्रतिपदा का मान अधिकाधिक प्रविष्ट कर चुका हो उसे अनुमति कहा गया। यहाँ तक कि इसका साहित्य जगत् में भी प्रचार हुआ – 'राका सुधाकरमुखी तरलायताक्षी' आदि। अमावस्या में रात्रि में शुक्लप्रतिपदा का घटयादिमान अधिक हो तो उसे सिनीवाली कहा गया। प्राचीनकाल में में यही अच्छी तरह से ज्ञात था कि शुक्लप्रतिपदा में चन्द्र दिखे या न दिखे पर रात्रिपर उसका चन्द्रकला का प्रभाव रहता है। यह गणितागत मान का प्रभाव था।

तिथियों की संज्ञायें –

तिथियों का नाम	**संज्ञा**
प्रतिपदा, एकादशी, षष्ठी 1,11,6	नन्दा
द्वितीया, सप्तमी, द्वादशी 2,7,12	भद्रा
तृतीया, अष्टमी, त्रयोदशी 3,8,13	जया
चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी 4,9,14	रिक्ता
पंचमी, दशमी, पूर्णिमा/ अमावस्या 5,10,15	पूर्णा

1.4 तिथि साधन में विशेष

तिथि साधन में सूर्य चन्द्र राश्यादि अन्तर की कलाओं से अनुपात द्वारा वर्तमान तिथि का भुक्त तथा भोग्य मान ज्ञात होता है। सूर्यगति एवं चन्द्रगति की अन्तर कलाओं से तिथि का घटी पलात्मक मान ज्ञात किया जाता है।

तिथिक्षय – जिस तिथि में दो सूर्योदय हो, उसे क्षयतिथि कहते हैं। क्षय तिथि पड़ने पर एक अहोरात्र में तीन तिथियों की सन्धियाँ होती हैं। इस प्रकार से पूर्वतिथि सूर्योदय के बाद ७ घटी के भीतर कभी भी समाप्त हो जाती है। सूर्योदय बिना द्वितीया तिथि का प्रारम्भ औदयिक तिथि के बाद होता है। द्वितीय सूर्योदय से कुछ देर पहले से ५ घटी पूर्व तक कभी भी वह समाप्त हो सकती है। तिथि का क्षय प्रमाण परम १० घटी तिथिमान परमाल्प ५० घटी तक पहुँच जाता है। तीसरी तिथि दूसरे सूर्योदय से कुछ पूर्व ही प्रारम्भ होती है। इस स्थिति को क्षय तिथि कहते हैं।

तिथि क्षय तथा वृद्धि का परिज्ञान –

शक १९२९, संवत् २०६४ श्रावणशुक्ल तृतीया बुध दिनांक १५ अगस्त २००७, ३ गुरू ६०घटी २ मंगल५८/३५ , ३ बृह. ०१/०७ है। ६० – ५८/३५ = ०१ घ.२५ प. द्वितीया के बाद तृतीया मंगल को पूर्ण एवं गुरू का तिथिवृद्धि के रूप में ०१/३५ घटी रहेगी। क्षय में इसी वर्ष भाद्रकृष्ण रविवार को षष्ठी का क्षय है। इसी दिनांक को पंचमी का मान ०/०७ है। अत: इस मान को ६०- ०/०७ = ५९/५३ रविवार को षष्ठी एवं सप्तमी के संयुक्त मान से ५९/५३२ -५३/५०षष्ठी का मान = ०६/०३ द्वितीय सूर्योदय सोमवार से पूर्व से ही सप्तमी का भोग षष्ठयन्त के बाद जानना चाहिए। यही तिथि क्षय है।

तिथि वृद्धि - जब एक तिथि में दो सूर्योदय हो तथा तिथि भोग तीन दिवस में पूर्व दिन का स्पर्श वर्तमान दिन पूर्ण अहोरात्र ६० घ. = २४ घं. तक तथा तीसरे दिन द्वितीय सूर्योदय के पश्चात् के बाद भी कुछ समय तक रहे तो उसे तिथिवृद्धि कहते है।

इस स्थिति में तिथिमान ६९ घटी = २७ घं. ३६ मि. तक पहुँच सकती है। प्रथम सूर्योदय से पूर्व ही तिथ्यारम्भ हो तथा द्वितीयसूर्योदय के बाद तक भी तिथि व्याप्त रहे तो तिथिवृद्धि कहते है।

उदाहरण –

संवत् २०६४, शक १९२९ श्रावणशुक्ल द्वितीया मंगल, दिनांक १४ अगस्त २००७ को घ. ५८ प. ३५ तक घं. ४ मि. ५६ A.M. (मध्यरात्रि के बाद तक) है।

६० घ. -५८ घ.३५ प. = १ घ. २५ पं. मात्र मंगलवार को तृतीया है। बुधवार को सूर्योदय से पूर्व मंगलवार को तृतीया तिथि प्रारम्भ है। बुधवार को तृतीया ६० घं. = २४ घंटा है। तत्पश्चात् गुरूवार

को सूर्योदय के पश्चात् केवल १ घ. १७ पल तृतीया है।

अत: ६० घ. + १ घ. २५ प. + १ घ. १७ प. = ६२ घ. ४३ प. तृतीया का मान प्रतीत होने से वृद्धि मानी जायेगी। तृतीया तीन दिवस तक व्याप्त रही। बुधवार तथा गुरूवार को एक तिथि में दो सूर्योदय हुए।

शुद्ध तिथि – जिस तिथि में केवल एक सूर्योदय हो। मध्यम तिथि ६० घटी से छोटी होती है। धर्मशास्त्रीयदृष्टि से तिथ्यारम्भ तथा अवसान के कालभेद से व्रतपर्व उत्सव जयन्ती प्रभृति के लिए अनेक प्रकार के विचार होते हैं।

अभ्यास प्रश्न – 2

बहुवैकल्पिक प्रश्न –

1. चक्र कला का मान होता है –

   क. २१००० ख.२१६०० ग. २२००० घ. २३०००

2. १२° = ?

   क. १ तिथि ख. २ तिथि ग. ३ तिथि घ. कोई नहीं

3. षष्ठी तिथि का स्वामी कौन है ?

   क. अग्नि ख. ब्रह्मा ग. कार्तिकेय घ. गौरी

4. मधुमिक्खयाँ किस पक्ष में मधु संचय करती है –

   क. शुक्ल ख. कृष्ण ग. दोनों घ. कोई नहीं

5. तिथियों के क्रम में सप्तमी के पश्चात् कौन आता है –

   क. पंचमी ख. षष्ठी ग. अष्टमी घ. नवमी

1.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि तिथि का अन्वेषण ऋषि परम्परा में ज्योतिष शास्त्र के लिए अपूर्व उपलब्धि मानी गयी। तिथि निर्धारण से ही सूर्य और चन्द्रमा के सभी प्रकार के सम्बन्ध सुव्यवस्थित हो सके। सूर्योदय के बाद सूर्यास्त तत्पश्चात् पुन: पुन: सूर्योदय एवं सूर्यास्त। इसमें कहीं ऐसा मानक नहीं था जिसे स्थिर बिन्दु मान कर सम्बन्धों का सत्यापन हो सके। वैदिक ऋषि प्राकृतिक यज्ञ को भी उतनी ही तन्मयता से समझता था जितनी तन्मयता से उपकरण वैध यज्ञ को जानता था। अरण्य या सरस्वती नदी के तट पर निरभ्र या साभ्र आकाश के नीचे प्रतिदिन सूर्य (दिनेश) का निकलना और ढलना (सूर्यास्त) ऋषिगण अपनी आँखों से देखते रहे। दिन में समस्त

वातावरण प्रकाश स्नात होता रहा और रात्रियाँ अंधकारपूर्ण होती रहीं। इन रात्रियों की दो प्रकार की स्थितियाँ बनती रहीं – प्रकाश पूर्ण रात्रियाँ और अन्धकारपूर्ण रात्रियाँ। इन रात्रियों ने ही वैज्ञानिक मन को सोचने के लिए विवश किया। पूर्णिमा की सांध्यवेला में पूर्वी क्षितिज पर पूर्ण चन्द्र का दिखलायी देना और धीरे धीरे प्रतिदिन उसका क्षीण होना निरन्तर ध्यान में आता रहा। ऐसा प्रतीत होने लगा कि चन्द्रमा पूर्णता को पन्द्रहवें दिन प्राप्त कर रहा है। इसीलिए उस तिथि या रात्रि को पूर्णा या पूर्णिमा कहा गया। क्या आकाश में पन्द्रह चन्द्रमा उगते हैं? अथवा एक ही चन्द्रमा पन्द्रह प्रकार का स्वरूप धारण करता है? ऋषि ने कहा नहीं, नहीं, एक ही चन्द्रमा पंचदशी की रात्रि में पूर्णता प्राप्त करता है और दूसरी पंचदशी की रात्रि में क्षीण हो जाता है। इस प्रकार से यह सुनिश्चित तथ्य सामने आ सका कि चन्द्रमा एक ही है। प्रतिपदा से लेकर अमावस्या/ पूर्णिमा पर्यन्त पन्द्रह तिथियाँ होती है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

तिथि – सूर्य एवं चन्द्रमा का १२° का गत्यात्मक अन्तर तिथि कहलाता है। प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा व अमावस्या पर्यन्त पन्द्रह तिथियाँ होती है।

पूर्णिमा – शुक्लपक्ष की पन्द्रहवीं तिथि का नाम पूर्णिमा है। इस तिथि को चन्द्रमा पूर्ण कलाओं के साथ आकाश में उदित होता है।

अमावस्या – कृष्णपक्ष की पन्द्रहवीं तिथि का नाम अमावस्या है। इस तिथि को धरती पर रात्रि में अंधकार होता है। अमावस्या के दो भेद है – सीनि और कुहूवाली।

दिनेश – दिन के ईश अर्थात् स्वामी को दिनेश कहा जाता है। जिसे हम सूर्य के रूप में जानते है।

जया – यह तिथियों की संज्ञा है। तृतीया, अष्टमी एवं त्रयोदशी तिथि को जया कहा जाता है।

भद्रा – तिथियों के अन्तर्गत भद्रा भी संज्ञा है। द्वितीया, सप्तमी तथा द्वादशी को 'भद्रा' कहा जाता है। विष्टि नामक करण को भी भद्रा कहा जाता है, जो प्राय: अशुभकारक माना जाता है।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 की उत्तरमाला

1. सूर्य 2. तिथि 3. अमावस्या 4. १२ 5. प्रतिपदा 6. भद्रा 7. गौरी

अभ्यास प्रश्न -2 की उत्तरमाला

1. ख 2. क 3. ग 4. क 5. ग

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ग्रहलाघवम् - प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय
2. तैतरीय ब्राह्मण
3. पंचांग साधन – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
4. ज्योतिष शास्त्र – डॉ0 कामेश्वर उपाध्याय
5. भारतीय ज्योतिष – डॉ0 शंकरबालकृष्ण दीक्षित

1.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. केशवीय जातक पद्धति
2. ज्योतिष सर्वस्व
3. भारतीय कुण्डली विज्ञान
4. भारतीय ज्योतिष
5. ग्रहलाघवम्
6. सूर्यसिद्धान्त

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. तिथि का विस्तृत वर्णन कीजिये।
2. स्वकल्पित तिथि साधन कीजिये।
3. तिथियों का उल्लेख करते हुए उनका महत्व निरूपण कीजिये।
4. ज्योतिषशास्त्र में तिथियों का क्या योगदान है? स्पष्ट कीजिये।
5. तिथि साधक सूत्र लिखिये।

इकाई – 2 वार साधन

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 वार परिचय

2.3.1 वार साधन

2.4 वार में विशेष

2.5 सारांश

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

2.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 सहायक पाठ्यसामग्री

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई -103 के द्वितीय खण्ड की दूसरी इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – वार साधन। इससे पूर्व की इकाईयों में आपने तिथि के बारे में अध्ययन कर लिया है। अब आप पंचांग के और एक रूप **वार** के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

सर्वविदित है कि वार सात होते है। रविवार से शनिवार पर्यन्त। किन्तु ये कम लोगों को ज्ञात होगा कि दुनिया को वार का ज्ञान भारतवर्ष ने सर्वप्रथम कराया था। वारक्रम ज्योतिषशास्त्र की देन है।

आइए इस इकाई में वार का ज्ञान करते हुए उसके गणितीय अवयवों को भी समझने का प्रयास करते है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- जान लेंगे कि वार किसे कहते है।
- को ज्ञात हो जायेगा कि वार का मान कितना होता है।
- वार के गणितीय अवयव को समझ लेंगे।
- अच्छी तरह से वार का साधन कैसे किया जाता है, जान जायेंगे।

2.3 वार परिचय

सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक जैसे क्रम में स्थित सात वारों का प्रचलन है। ये हैं रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरूवार, शुक्रवार एवं शनिवार। जिन देशों और सभ्यताओं में दस दिनों के वार थे अथवा तीस दिनों के नाम थे उन्होंने भी अपने व्यवहार में संशोधन करके वारक्रम को ठीक कर लिया। आज पूरे विश्व में ऋषियों द्वारा स्थापित वारक्रम को स्वीकृत कर लिया गया है। यह वारक्रम भूकेन्द्रीय कक्षाक्रम के युग में निर्धारित कर लिया गया था। केप्लर के सूर्यकेन्द्रीय कक्षाक्रम को वैज्ञानिकी स्वीकृति मिलने के बाद भी वारों के क्रम को वैसे ही रहने दिया गया। विज्ञानवाद के इस युग में 'रविवार' के स्थान पर 'भूवार' या पृथ्वीवार नहीं लाया गया अन्यथा सोमवार चन्द्रमा के उपग्रह होने के कारण वारक्रमों से बाहर हो जाता। वारों के नामकरण की प्राचीन भारतीय उपपत्ति पर विचार करने से पूर्व 'वार' पर विचार करते है।

वार – एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के मध्यवर्ती काल को 'वार' कहते हैं। सूर्य के अर्धबिम्ब दर्शन से वार की प्रवृत्ति मानी गयी है। सूर्योदय से वारप्रवृत्ति मानने की स्वीकृति अनेक ग्रन्थों में हैं, जैसे –

ते चार्कोदयोरेव विवरे तु समा: स्मृता:। (पुलस्त सिद्धान्त:)

अर्कोदय अर्थात् सूर्योदय से ही वार प्रवृत्ति और वर्षप्रवृत्ति होनी चाहिए। शून्य अक्षांश पर बसी रावणराजधानी लंका नगरी को वारप्रवृत्ति का मानबिन्दु माना गया –

प्रभाकरस्योदयनात् पुरे स्याद् वारप्रवृत्तिर्दशकन्धरस्य।

वसिष्ठसंहिता के आधार पर यह नियत किया जा सका कि वासर आरम्भ सूर्योदय से माना जाना चाहिए। भास्कराचार्य ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट कर दिया –

लंकानगर्यामुदयाच्चभानो-
स्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव।
मधो: सितादेर्दिनमानसवर्ष
युगादिकानां युगपत् प्रवृत्ति:।।

भारतीय मान्यता के अनुसार शून्याक्षांश स्थित लंका नगरी में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, रविवार के दिन से वार, सप्ताह, मास, वर्ष, युग आदि की प्रवृत्ति हुई। यहाँ प्रवृत्ति का अर्थ है आरम्भ। ज्योतिर्निबन्ध परवर्ती निबन्धग्रन्थ है। इसमें युगीन मान्यताओं और स्वीकृति को ही सिद्धान्तों में लिया गया है। इसमें भी वार प्रवृत्ति सूर्योदयकालिकी ही है –

वारप्रवृत्तिं मुनयो वदन्ति सूर्योदयाद् रावणराजधान्याम्।

शून्य अक्षांश पर स्थित लंका नगरी भारतवर्ष के लिए खगोलीय महत्व की नगरी है। यद्यपि आज यह समुद्र में डूब गयी है, पर प्राचीनकाल में इसका सद्भाव था। द्वारकापुरी की तरह यह भी समुद्र के गर्भ में चली गयी। आज द्वारकापुरी समुद्रविज्ञानियों द्वारा ढूँढ़ ली गयी है। अत: यह संदेह करना कि लंका काल्पनिक नगरी है भारतीय साहित्य और ज्योतिष को झुठलाना होगा। पृथ्वी का स्वरूप बनता बिगड़ता रहता है। यूरोप के लिए जिस तरह से 'ग्रीनवीच' भौगोलिक महत्व का है उससे अधिक महत्त्व की है 'लंका' भारतीयों के लिए। वर्तमान लंका ६ और ८ अक्षांश के बीच है। लंका की प्राचीन भौगोलिक स्थिति शून्य अक्षांश से १० अक्षांश तक समुद्र में भारत के समानान्तर उत्तर दक्षिण की ओर फैली हुयी थी। इसके छोटे-छोटे भूभाग (त्रिकूट, द्विकूट) आदि धीरे-धीरे समुद्र गर्भ में समा गये।

सूर्यसिद्धान्त वारप्रवृत्ति अर्द्धरात्रि से मानता है। आज कम्प्यूटर कुण्डलियों में भी वारप्रवृत्ति आधी रात से ही मानी जा रही है। सूर्यसिद्धान्त द्वारा रात्र्यर्द्ध से वारप्रवृत्ति की स्वीकृति ने एक व्यापक गणितीय सरलता को जन्म दिया –

'वारप्रवृत्ति: प्राग्देशे क्षपार्द्धेऽभ्यधिके भवेत्।। (सूर्यसिद्धान्त, १/६६)

अर्द्धरात्रि और मध्याह्न की प्रवृत्ति उत्तर दक्षिण रेखा पर बसे सभी स्थानों, नगरों में एक ही समय में होती है। अत: रात्र्यर्द्ध से वार प्रवृत्ति मानने का प्रचलन तेजी से बढ़ा। सूर्योदय एक वर्ष में मात्र दो बार ही (मार्च, सितम्बर) एक रेखा पर भी बराबर होता है। सूर्योदय के लिए प्रतिदविसीय क्रान्ति और अक्षांश द्वारा गणित करने पर अन्तर आता रहता है। यद्यपि देशान्तर रात्र्यर्द्ध और सूर्योदय दोनों को स्थान भेद से प्रभावित करता है।

वारप्रवृत्ति के इन दोनों उदाहरणों रात्र्यर्द्ध और सूर्योदय कालिक ने भारतीय ज्योतिष की गणना की ऊँचाई को प्रदर्शित किया है। लोक जीवन में इन दोनों प्रवृत्तियों का उपयोग आज भी हो रहा है। उदाहरण के लिए सूर्योदय के पूर्व संकल्प में सूर्योदय कालिक वार का प्रयोग करना। धर्मसिन्धु में दिया गया है कि सूर्योदय से तीन घटी पूर्व अग्रिम दिन वाली प्रात: संध्या होती है – 'सूर्योदयात् प्राक् घटिकात्रयं प्रात: सन्ध्या।' इसमें सन्ध्या वन्दन किया जाता है। यह अर्द्धरात्रिक वार प्रवृत्ति के प्रभाव का प्रमाण है। जयन्ती तिथियों में सूर्योदय कालिकी तिथियों का महत्व होता है।

वार प्रवृत्ति के मामले में रात्र्यर्द्ध कालिक प्रचलन को यूरोपीय प्रभाव समझना अज्ञानता है। कुछ अंग्रेज इतिहासकार इस प्रवृत्ति को पश्चिम का प्रभाव मानते हैं जो औचित्यहीन और ऐतिहासिक दृष्टि से विभ्रमपूर्ण है।

वार संख्या – सावन मान अर्थात् पृथ्वी के दिन के अनुसार सात वार होते हैं – 'अथ सावनमानेन वारा: सप्तप्रकीर्तिता:।' (पुलस्तसिद्धान्त:)
सावन दिन का अर्थ है अपने क्षितिज का दिन – 'उदयादुदयं भानोर्भूमि सावन वासर:'(सूर्यसिद्धान्त:)
ये सप्तवार हैं – रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरूवार, शुक्रवार और शनिवार।

वार क्रम का सिद्धान्त – यद्यपि यह ब्रह्माण्ड अनन्तकाल परिमाण तक फैला है फिर भी हम जिस सौरमण्डल में हैं उसमें प्रमुखरूप से सातवार पठित हैं। ब्रह्माण्ड को महाबिलम्, महाछिद्र या सुषिर भी कहते हैं। हमारे सौर मण्डल में प्राचीन मत के अनुसार पृथ्वी, चन्द्र, बुध, सूर्य, मंगल, गुरू, शनि स्थित हैं। इनके ऊपर नक्षत्र मण्डल हैं। आधुनिक मत के अनुसार पृथ्वी के स्थान पर केन्द्र में सूर्य स्थित है। प्राचीन कक्षा क्रम में शनि से नीचे की ओर चौथे पिण्ड को वार का अधिपति माना गया – आगे आप क्षेत्र द्वारा समझ सकते है –

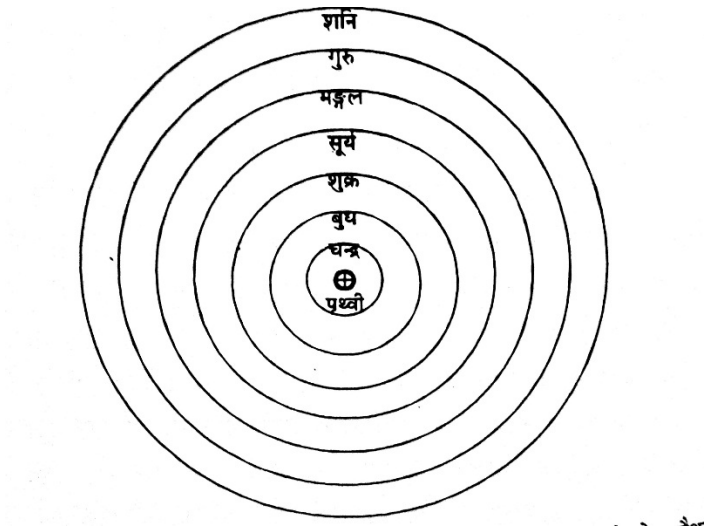

इस क्रम से स्पष्ट है कि शनि से चौथा सूर्य, सूर्य से चौथा चन्द्र, चन्द्र से चौथा मंगल, मंगल से चौथा बुध, बुध से चौथा गुरू, गुरू से चौथा शुक्र, शुक्र से चौथा शनि वार का अधिपति होने से यही वार क्रम निर्मित हुआ। प्राचीनकाल में पृथ्वी को केन्द्र मानकर अन्य समीपवर्ती ग्रहों के कक्षा क्रम को निर्धारित किया जाता था। आधुनिक युग में सूर्य को केन्द्र मानकर गणितकर्म किया जा रहा है। मनुष्य का कर्म क्षेत्र पृथ्वी है और सौरमण्डल का कर्मबिन्दु सूर्य है। प्राचीन आचार्य भी सूर्य के केन्द्रत्व रहस्य से परिचित थे। इसीलिए सूर्य को उन्होंने आत्मा ग्रह कहा।

सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ का भूगोलाध्याय वारप्रवृत्ति के वैज्ञानिक पक्ष को सामने रखता है –

मन्दादध: क्रमेण स्युश्चतुर्धा दिवसाधिपा:।
वर्षाधिपतयस्तद्वत्तृतीयाश्च प्रकीर्तिता:।।
उर्ध्वक्रमेण शशिनो मासानामधिपा: स्मृता:।
होरेशा: सूर्यतनयादधोऽध: क्रमशस्तथा।।

ग्रहों के प्राचीनकक्षाक्रम (भारतीय आचार्यों द्वारा प्रदत्त) से वारों का क्रम निर्धारित हो सका। ऐसा वैज्ञानिक क्रम अन्यत्र कहीं दिखलाई नहीं देता।

इन दो श्लोकों में ग्रन्थकार ने वार क्रम, वर्षपति, मासपति और होरेश का ज्ञान कराया है। पहले मास का अधिपति ग्रह जो होगा वारों के क्रम से तीसरा वार आने वाले सावनमास का पहला दिन होगा तथा उसका स्वामी मासपति होगा। मासपतियों का क्रम वारक्रम से एक अन्तर पर होता है – सूर्य, मंगल, गुरू, शनि, सोम, बुध एवं शुक्र।

वर्षपतियों में वारक्रम चतुर्थ अन्तर से निम्नलिखित रूप में बनता है – रवि, बुध, शनि, मंगल, शुक्र, सोम तथा गुरू। इन्हीं का अनुवर्तन होता रहता है। ध्येय है यह क्रम चान्द्रमासों या चान्द्रवर्षों का नहीं है। यह क्रम सावन मासों एवं वर्षों का है। आज व्यवहार में यह नहीं चलता है। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन जो वार होता है उसी का ग्रह वर्षेश होता है। इन दिनों वर्षेश और वर्षमन्त्री जानने के लिए संवत्सरग्रन्थों का आश्रय लिया जाता है।

वारप्रवृत्ति में होरा का महत्व – वारों का नाम सूर्यादि सात ग्रहों के नाम पर रखा हुआ है। जिस दिन जो वार होता है उस दिन उस ग्रह की प्रथम होरा होती है। होराक्रम भी वार क्रम की तरह होता है। प्रतिदिन सात घण्टे के बाद होरा का क्रम आवर्तित होने लगता है।

इस प्रकार से सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ के द्वारा वार क्रम जानने की दो विधियाँ सामने आती हैं –

१. ग्रहकक्षाक्रमविधि

२. होराक्रमविधि

दोनों विधियों में पूरकता भी है। होराक्रम और अधिक सूक्ष्मता को प्रदर्शित करता है। ऐसा विवेचन विश्व के अन्य किसी भी स्थान में नहीं प्राप्त हुआ है।

एक होरा एक घंटा या ढ़ाई घटी की होती है। अपने वार में पहली होरा अपने वार ग्रह की होती है। बाद की होराओं का क्रम निम्नलिखित होता है – सूर्य, शुक्र, बुध, चन्द्र, शनि, गुरू एवं मंगल। होरा सारिणी से यह स्थिति समझ में आ जायेगी –

काल होरा सारिणी –

घंटा	रविवार	सोमवार	मंगलवार	बुधवार	गुरूवार	शुक्रवार	शनिवार
१	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.
२	शु.	श	सू	चं.	मं.	बु.	बृ.
३	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.	मं.
४	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.
५	श.	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.
६	वृ.	शु.	श.	सू.	चं.	मं.	बु.
७	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.
८	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.
९	शु	श.	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.
१०	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.	मं.
११	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.

१२	श.	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.
१३	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.	मं.	बु.
१४	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.
१५	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.
१६	शु.	श.	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.
१७	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.	मं.
१८	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.
१९	श.	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.
२०	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.	मं.	बु.
२१	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.
२२	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.
२३	शु.	श.	सू.	चं.	मं.	बु.	गु.
२४	बु.	बृ.	शु.	श.	सू.	चं.	मं.

अभ्यास प्रश्न -1

1. लंका का अक्षांश है –

   क. १०° ख. 0° ग. २०° घ. ३०°

2. आचार्य भास्कराचार्यानुसार वार प्रवृत्ति कहाँ से आरम्भ हुई?

   क. लंका ख. चीन ग. ग्रीनह्वीच घ. अमेरिका

3. एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के मध्यवर्ती काल को क्या कहते है?

   क. वार ख. तिथि ग. नक्षत्र घ. योग

4. सूर्यसिद्धान्त वारप्रवृत्ति कब से मानता है?

   क. मध्याह्न से ख. अर्द्धरात्रि से ग. सूर्योदय से घ. सूर्यास्त से

5. 'मन्दादध: क्रमेण स्यु: चतुर्थ दिवसाधिपा:' कहाँ की उक्ति है –

   क. सूर्यसिद्धान्त ख. सिद्धान्तशिरोमणि ग. ग्रहलाघवम् घ. कोई नहीं

काल होरा की उपयोगिता –

जैसे किसी को नौकरी आरम्भ करनी है और उस दिन शनिवार हो तो ऐसी स्थिति में सूर्य की होरा आने पर वह व्यक्ति सेवा आरम्भ कर सकता है। शनिवार के दिन सूर्योदय के ठीक तीन घण्टे

बाद सूर्य की होरा आयेगी जो एक घंटा तक रहेगी। यदि कार्य दिवस और कार्य समय पकड़ में न आये तो शुक्र या बुध की होरा में भी व्यक्ति सेवा आरम्भ कर सकता है। ऐसे समय में अर्थात् अभीष्टवार की काल होरा में आरम्भ किया हुआ कार्य नष्ट नहीं होता। इस प्रक्रिया को अवश्य ही व्यवहार में लाना चाहिए। दिक् शुल, यात्रा, परिघ, दण्ड आदि त्याज्य कर्म में वार होरा बहुत महत्वपूर्ण मानी गयी है। इस सारिणी के अनुसार व्यवहार में शुभ होरा को लाया जा सकता है।

काल होरा का महत्त्व -

कभी कभी किसी भी वार में किसी अन्य वार विशेष का काम करना पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में काल होरा का आश्रय लिया जाता है। प्रत्येक वार में सात वार भ्रमण करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति को ज्ञान हो तो किसी वार विशेष में भी वह किसी विशिष्टवार का शुभ या अशुभ कर्म कर सकता है –

तस्य ग्रहस्यवारे यत्किंचित् कर्मप्रकीर्तितम्।
तत् तस्य कालहोरायां सर्वमेवविधीयते।। (वृहद्दैवज्ञरंजन २३/३३)

इस प्रमाणवचन से यह सिद्ध होता है कि अभीष्टवार की काल होरा आने पर किसी भी वार में अभीष्ट कार्य किया जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र में सात ग्रहों की प्रकृति और उनमें सम्पादित होने वाले कार्यों का उल्लेख मिलता है। अत: किसी ग्रह विशेष का काम भी उसकी काल होरा में किसी भी दिन किया जा सकता है –

यस्य खेटस्य यत्कर्म वारे प्रोक्तं विधीयते।
ग्रहस्य क्षणवारेऽपि तस्य तत्कर्म सर्वदा ।।(मुहूर्त्तचिन्तामणि, पीयूषधारा टीका,५४)

वारों की शुभ, अशुभ संज्ञा –

चन्द्रमा, बुध, वृहस्पति, शुक्र ये शुभ वार हैं। सूर्य, मंगल एवं शनि अशुभ या क्रूर वार हैं। आज विश्व के वैज्ञानिकों और तार्किकों के द्वारा यह स्थापित किया जाता है कि सूर्य के परिभ्रमण क्रम में पृथ्वी का प्रतिदिवसीय घूर्णन दिन और रात्रि को बनाता है। अत: वारों की शुभता या अशुभता एक व्यर्थ कल्पना है। ध्येय है ज्योतिषशास्त्र द्वारा वारों की शुभता-अशुभता का प्रतिपादन जीवन के व्यावहारिक पक्ष और परिणाम को लेकर है। किसी देश का स्वातन्त्रय दिवस, किसी परिवार में बच्चे का जन्म शुभ माना जाता है। उसी तरह मृत्यु दिवस या परतंत्रता दिवस अशुभ माना जाता है। यौगिक प्रक्रिया द्वारा भी इसकी परीक्षा हुई है।

वारों में विहित कर्म – प्रत्येक वार की प्रकृति अलग-अलग होने से उनके दिनों में करणीय कार्यों का वर्गीकरण पृथक्-पृथक् किया गया है।

रविवार में करणीय – जिस दिन रविवार हो राज्याभिषेक, उत्सव, वाहन क्रय-विक्रय, सेवा नौकरी, गो, अग्नि, मन्त्र से सम्बन्धित कर्म, औषध, शास्त्र, स्वर्ण, ताँबा, ऊन, चमड़ा, काष्ठ, युद्ध और व्यापारादि से सम्बन्धित कार्य किया जाता है।

राजाभिषेकोत्सवयानसेवागोवह्निमन्त्रौषधिशस्त्रकर्म।

सुवर्णताम्रोर्णिकचर्मकाष्ठसंग्रामपण्यादि रवौ विदध्यात्।।

चित्रकला, धातुकला, आभूषण निर्माण, लाह, बाजार सम्बन्धी,कार्य भी रविवार को होता है।

सोमवार में करणीय – सोमवार के दिन शंख,कमल, मोती, चाँदी, ईख, भोजन सम्बन्धी कार्य, स्त्री, वृक्ष, कृषि-कर्म, जल, आभूषण, गीत, यज्ञ, दुग्ध, पुष्प, विद्यारम्भ से सम्बन्धित सभी कार्य को किया जा सकता है – वास्तुकर्म, नृत्यारम्भ आदि भी सोमवार को आरम्भ किया जा सकता है –

शंखाब्जमुक्तारजतेक्षुभोज्यस्त्रीवृक्षकृष्यम्बुविभूषणाद्यम्।

गीतक्रतुक्षीरविकारश्रृंगीपुष्पाक्षरारम्भणमिन्दुवारे।।

मंगलवार में करणीय –

मंगल के दिन भेद नीति, झूठ, चोरी, आरोप, जहर, अग्नि,शस्त्र, बंधन, अभिघात, युद्ध, कपट, दंभ, सैन्यकर्म, खनिज कर्म, स्वर्ण, धातु, मूँगा, रक्त एवं लाल वस्तु से सम्बन्धित कार्य किया जा सकता है। इन कार्यों के लिए मंगल बहुत सफलतादायी होता है।

भेदानृतस्तेयविषाग्निशस्त्रबन्धाभिघाताहवशाठयदम्भान्।

सेनानिवेशाकरधातुहेमप्रवालकार्यादि कुजेऽह्निकुर्यात्।।

बुधवार में करणीय – बुधवार के दिन विद्या, चातुर्य, पुण्य, कल्प, शिल्पविद्या, नौकरी, लेखन लिपि, धातुकर्म, स्वर्ण, युक्ति, मित्रता, व्यायाम, वाद- विवाद, गणितविद्या, वेदाध्ययन, नैपुण्य कर्म आदि से सम्बन्धित कार्य को करना चाहिए –

नैपुण्यपुण्याध्ययनं कलाश्च शिल्पादिसेवालिपिलेखनानि।

धातुक्रियाकांचनयुक्तिसन्धिव्यायामवादाश्चबुधे विधेया:।।

गुरूवार में करणीय –

गुरूवार के दिन धार्मिक, पौष्टिक, यंत्र, विद्या, मांगल्य सुवर्ण, वस्त्र, घर, यात्रा, रथ, घोड़ा, औषध, आभूषण, उद्यान आदि से सम्बन्धित क्रिया की जा सकती है। अत्यन्त शुभ कर्म वृहस्पतिवार को सम्पन्न किये जाते हैं –

धर्मक्रियापौष्टिकयज्ञविद्यामांगल्यहेमाम्बरवेश्मयात्रा।

रथाश्वभैषज्यविभूषणाद्यं कार्यं विदध्यात्सुरमंत्रिणोह्नि।।

शुक्रवार में करणीय – शुक्रवार के दिन स्त्री संगीत, शय्या, मणि, रत्न, गंध, वस्त्र, उत्सव, अलंकार, भूमि, व्यापार, गो, द्रव्य, कोष, कृषिकर्म, हीरा, मोती, चाँदी, सुगन्धद्रव्य, उद्यान, पुष्परचना, अश्वकर्म आदि अनेक शुभ कार्य किये जाते हैं-

स्त्रीगीतशय्यामणिरत्नगन्धं वस्त्रोत्सवालंकरणादि कर्म।
भूपण्यगोकोशकृषिक्रियाश्च सिध्यन्ति शुक्रस्य दिने समस्तम्।।

शनिवार में करणीय – शनिवार के दिन लोहा, पत्थर, जस्ता, शीशा, पीतल, नौकर, शस्त्र, झूठ, पाप, चोरी, विष, निंद्यकर्म, शराब, निर्माणादि, हाथीक्रय, गृहप्रवेश, हाथी बन्धन, दीक्षा और स्थिर कर्म से सम्बन्धित प्रत्येक कार्य को किया जा सकता है। गदहा, ऊँट, तुलादान, शनिदान आदि से सम्बन्धितकर्म को भी शनि के दिन किया जा सकता है।

लोहश्मसीसत्रपुरस्रदास पापानृतस्तेयविषासवाद्यम्।
गृहप्रवेशो द्विपबन्धदीक्षा स्थिरं च कर्मार्कसुतेऽह्नि कुर्यात्।।

स्थिरादि संज्ञा – रविवार को स्थिर, चन्द्र को चर, मंगल को उग्र, बुध को मिश्र, गुरू को लघु, शुक्र को मृदु और शनि को तीक्ष्ण कहते हैं। इन वारों में इनकी संज्ञा के अनुरूप कार्य किया जाता है।

वारों की वैश्विक समीक्षा –

भारतीय आचार्यों के अनुसार सृष्टि का समारम्भ रविवार के दिन हुआ था, क्योंकि वार की प्रवृत्ति पृथ्वी ही नहीं किसी दूसरे पिण्ड पर भी सूर्योदय के ही कारण होगी। सूर्य सौरमण्डल का प्रथम ग्रह होने के कारण आत्मा ग्रह के रूप में भारत में स्वीकृत था। उसमें स्वशक्ति उत्पादन क्षमता और पर शक्ति वृद्धि क्षमता दोनों होने से आत्मा ग्रह माना गया। अत: सूर्य किरणों का अपने –अपने स्थान से सम्पर्क के कारण दिन होता है। इसलिए प्रथम दिन रविवार ही होगा। वारों की प्रथम होरा पर उस ग्रह का अधिकार होता है। भारतीयों के पास इस आशय का पुष्ट प्रमाण होने से वारों का ग्रहों और देवता से सम्बन्ध बना। भारतीय संस्कृति में विश्राम की अवधारणा नहीं रही है। अत: वारों का प्रयोग यहाँ विश्राम या सेवा कार्य के लिए नहीं किया गया। रविवार से सेवा कार्य शुरू करने का मुहूर्त्त ज्योतिष में उपलब्ध है।

प्राचीन भारतीय ज्योतिष में तीन प्रकार के वारों का उल्लेख प्राप्त होता है – १. ग्रह वार २. नक्षत्र वार और ३. करण वार। वार और दिन में अभेद होने से कहीं 'दिन' तो कहीं 'वार' का प्रयोग हुआ है। 'अथर्वज्योतिष' में वारों का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। 'अथर्वज्योतिष' 'आर्चज्योतिष' के बाद की रचना है। आर्चज्योतिष में महात्मा शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि अथर्वज्योतिष के बीच के कालखण्ड में भारतीय ज्योतिष का व्यापक विकास हुआ है।

अथर्वज्योतिष में 'करण' और वार का महत्व स्पष्ट है। श्राद्ध से करण जुड़ा है और वार शुभकर्मों से जुड़े हैं। अथर्वज्योतिष का काल ईसा से २८००० वर्ष पूर्व का है। अथर्वज्योतिष का मूल रूप महाभारत से काफी पहले का है। अथर्व ज्योतिष में वारों की चर्चा निम्नलिखित रूप में है –

पंचमी दशमी पूर्णा तथा पंचदशीति च।
तिथयो ह्येषु वारेषु सिद्धार्थास्तत्र तच्छृणु।।
नन्दा भृगौ सोमसुते च भद्रा भौमे जया सूर्यसुते च रिक्ता।
पूर्णा गुरौ पंचसु पंच एते जयावहा: सर्वफलप्रदाश्च।।

इनमें वार और वारनाम आये हैं। अथर्व-ज्योतिष को बहुत बाद की रचना नहीं बतलाया जा सकता। इसमें पूर्णिमा के लिए पंचदशी तथा शुक्र के लिए 'भृगु' का प्रयोग हुआ है। 'पंचदशी' शब्द वेदकाल में प्रियता के शिखर पर था। 'भृगु' शब्द 'शुक्र' से प्राचीन है। काल की दृष्टि से और व्युत्पत्ति की भी दृष्टि से। महाकाल के छिद्र में से गिरने के पश्चात् भृगु का नाम शुक्र पड़ा। यह व्युत्पत्तिलभ्य इतिहास है। अत: भारतीय ज्योतिष और सनातन संस्कृति की परम्परा में वारों का प्रयोग बेबीलोनिया संस्कृति के गर्भ में आने से हजारों हजार वर्ष पूर्व से होता चला आया है।

ईसाई मतावलम्बियों के अनुसार सृष्टि का प्रथम दिवस सोमवार है। सर्वशक्तिमान 'गॉड' ने सृष्टि की रचना छ: दिनों में की और रविवार के दिन विश्राम किया। तब से आज तक रविवार 'विश्रामवार' बना हुआ है। छ: दिनों तक निरन्तर कार्य करने पर गॉड भी थकता है तो मनुष्य क्यों नहीं थकेगा? अत: 'सन डे' के दिन या तो विश्राम करना श्रेष्ठ है अथवा 'सेवा कर्म' करना। यहाँ सेवा से अर्थ है ईसाई धर्म या चर्च की सेवा।

'न्यू टेस्टामेंट' के लेखकों को 'ईसा मसीह' का सूली दिवस स्मरण नहीं रहा। वे किस दिन सूली पर लटकाये गये अथवा किस दिन स्वर्ग प्रस्थान किय उन्हें अज्ञात था। प्रायश: इतिहासकारों का मानना है कि पाँचवीं शताब्दी में यह निर्णय हुआ कि उनको शुक्रवार अथवा रविवार को शूली पर चढ़ाया गया था। अत: शूली चढ़ाने का त्योहार 'निसान मास' की पूर्णिमा को मनाया जाता है। यूरोपीय इतिहासकारों का अनुमान है कि वारों का विकसित क्रम ईसा की प्रथम शताब्दी के बाद प्रचलित हुआ है। उनका यह भी मानना है कि बेबीलोनियन ज्योतिषियों के कारण वार का ज्ञान प्रचार प्रसार में आया। जिसका स्वयं का इतिहास भ्रान्त रहता है वे दूसरों को भ्रमित करते हैं।

ईसाई धर्म के लोगों में रोमन शासक कान्सटैन्टाइन (कंस्तुताइन) ने एक घोषणा पत्र द्वारा ४२३ ई0 में सब्बाथ (अंतिम दिन) को ईश्वरीय दिन रविवार में बदल दिया। कम्युनिस्ट इतिहासकारों और एन.सी. लाहिड़ी आदि का मानना है कि यहीं से भारत में वारों का प्रवेश हुआ। यहाँ वे दो तथ्यों

को छुपा ले जाते हैं – १. कंस्तुताइन राजा अपने आधे जीवन में मूर्तिपूजक (पेंगन) था। वह ४२२ ई0 में हजारों वर्ष पूर्व अहर्गण साधन और वारों की सैक –निरेक विधि का प्रचलन हो चुका था।

भारतीयों के कक्षाक्रम को बेबीलोन के ज्योतिषी उसी रूप में लेते हैं। काल होरा का जो क्रम सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है वही क्रम बेबीलोनियन ज्योतिष में भी है। ये सारी जानकारियाँ अंग्रेज इतिहासकारों के लेखों में मिलती है। उनके लेखों में यह भी नहीं बताया गया है कि वे बेबीलोन के किन ग्रन्थों से अपना मत उद्धृत कर रहे हैं या उनके आधार ग्रन्थ का नाम क्या है? यह धूर्तता भारतीय इतिहास के निर्धारण में अंग्रेज इतिहासकारों ने पग-पग पर की है। वे यह भी नहीं बतलाते कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति से पूर्व पृथ्वी पर मूर्तिपूजक धर्मावलम्बियों का राज्य था जिन्हें आज यूरोपीय लोग 'पेंगन' कहते हैं। यही तथ्य सिद्ध कर देता है कि सनातन या वैदिक धर्म का प्रभाव विश्व में सर्वत्र था।

भारतीय पंचांगों, ज्योतिष ग्रन्थों और व्यावहारिक जीवन में सूर्यादि वार, नक्षत्र पुष्य आदि वार और करण वार का प्रयोग प्राचीनकाल से होता आया है –

राजद्वारिकमारम्भं कारयेत् तैतिले दिने। (अथर्वज्योतिष)

यह क्रम इतना प्राचीन है जितना प्राचीन हिन्दु संस्कृति और समाज।

अभ्यास प्रश्न – 2

बहुवैकल्पिक प्रश्न –

1. भारतीय ऋषियों के अनुसार वार का समारम्भ किस वार से हुआ था।
   क. सोमवार ख. रविवार ग. मंगलवार घ. बुधवार
2. प्रतिदिन कितने घण्टे के बाद होरा का क्रम आवर्तित होने लगता है?
   क. 5 ख. 6 ग. 7 घ. 8
3. वारों के क्रम में मंगल के पश्चात् क्या आता है?
   क. शनि ख. रवि ग. बुध घ. गुरु
4. निम्न में सूर्य को किसका कारक कहा गया है?
   क. मन का ख. आत्मा का ग. सत्व का घ. वाणी
5. भारतीय ज्योतिष में कितने प्रकार के वारों का उल्लेख मिलता है?
   क. तीन ख. चार ग. पाँच घ. छः

2.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक जैसे क्रम में स्थित सात वारों का प्रचलन है। ये हैं रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरूवार, शुक्रवार एवं शनिवार। जिन देशों और सभ्यताओं में दस दिनों के वार थे अथवा तीस दिनों के नाम थे उन्होंने भी अपने व्यवहार में संशोधन करके वारक्रम को ठीक कर लिया। आज पूरे विश्व में ऋषियों द्वारा स्थापित वारक्रम को स्वीकृत कर लिया गया है। यह वारक्रम भूकेन्द्रीय कक्षाक्रम के युग में निर्धारित कर लिया गया था। केप्लर के सूर्यकेन्द्रीय कक्षाक्रम को वैज्ञानिकी स्वीकृति मिलने के बाद भी वारों के क्रम को वैसे ही रहने दिया गया। विज्ञानवाद के इस युग में 'रविवार' के स्थान पर 'भूवार' या पृथ्वीवार नहीं लाया गया अन्यथा सोमवार चन्द्रमा के उपग्रह होने के कारण वारक्रमों से बाहर हो जाता। वारों के नामकरण की प्राचीन भारतीय उपपत्ति पर विचार करने से पूर्व 'वार' पर विचार करते है। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के मध्यवर्ती काल को वार कहते हैं। सूर्य के अर्धबिम्ब दर्शन से वार की प्रवृत्ति मानी गयी है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

वार – एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय के मध्यवर्ती काल को वार कहते हैं। रविवार से शनिवार पर्यन्त सप्त वार होते हैं।

वार प्रवृत्ति – सूर्य के अर्धबिम्ब दर्शन से वार की प्रवृत्ति मानी गयी है। सूर्यसिद्धान्त अर्धरात्रि से वार की प्रवृत्ति मानता है।

भृगु – शुक्रवार को भृगु वार भी कहते है।

आत्म कारक – ज्योतिषशास्त्र में सूर्य को आत्मा का कारक माना गया है।

सूर्यसिद्धान्त – सूर्य से सम्बन्धित सिद्धान्त को सूर्यसिद्धान्त कहा जाता है। इसे आर्षग्रन्थ भी कहा जाता है। वस्तुत: यह सूर्यांशपुरूष एवं दानवराज मय का परस्पर संवादरूपी ग्रन्थ है।

भूकेन्द्रिक – भू अर्थात् पृथ्वी। पृथ्वी को केन्द्र मानकर की जाने वाली गणना भूकेन्द्रिक कहलाती है।

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 की उत्तरमाला

1. ख 2. क 3. क 4. ख 5. ख

अभ्यास प्रश्न -2 की उत्तरमाला

1. ख 2. ग 3. ग 4. ख 5. क

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ग्रहलाघवम् - प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय
2. पंचांग साधन – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
3. ज्योतिष शास्त्र – डॉ0 कामेश्वर उपाध्याय
4. भारतीय ज्योतिष – डॉ0 शंकरबालकृष्ण दीक्षित

2.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. केशवीय जातक पद्धति
2. ज्योतिष सर्वस्व
3. भारतीय कुण्डली विज्ञान
4. भारतीय ज्योतिष
5. ग्रहलाघवम्
6. सूर्यसिद्धान्त

2.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वार किसे कहते है? स्पष्ट रूप से वर्णन कीजिये।
2. वार-क्रम का विस्तृत वर्णन कीजिये।
3. वारों में कृत्याकृत्य का उल्लेख कीजिये।
4. वारों की शुभाशुभ संज्ञा का वर्णन कीजिये।
5. काल होरा से आप क्या समझते है?

इकाई - 3 नक्षत्र साधन

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 नक्षत्र परिचय

3.3.1 नक्षत्र गणना का मूलाधार

3.3.2 ध्रुवादि संज्ञायें, चरणों के आधार पर नामकरण, अध:, उर्ध्व तथा तिर्यक संज्ञायें तथा क्षय-वृद्धि विचार

3.4 नक्षत्र साधन

3.4.1 नक्षत्र फल

3.5 सारांश

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.9 सहायक पाठ्यसामग्री

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई MAJY-103 के द्वितीय खण्ड की तृतीय इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – नक्षत्र साधन। इससे पूर्व की इकाईयों में आपने 'वार' के बारे में अध्ययन कर लिया है। अब आप पंचांग के और एक रूप **'नक्षत्र'** के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

राशियों के समूह को नक्षत्र कहते हैं। ज्योतिष शास्त्रानुसार २७ नक्षत्र होते हैं। अश्विन्यादि से लेकर रेवती पर्यन्त प्रत्येक नक्षत्र का मान १३ अंश २० कला होता है। नक्षत्र आकाशीय पिण्ड होता है।

आइए इस इकाई में नक्षत्र का ज्ञान करते हुए उसके गणितीय अवयवों को भी समझने का प्रयास करते है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- जान लेंगे कि नक्षत्र किसे कहते है।
- को ज्ञात हो जायेगा कि नक्षत्र का मान कितना होता है।
- नक्षत्र के गणितीय अवयव को समझ लेंगे।
- अच्छी तरह से नक्षत्र का साधन कैसे किया जाता है, जान जायेंगे।

3.3 नक्षत्र परिचय

ग्रह और तारों के साथ-साथ नक्षत्रों पर भी भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अन्वेषण किया जाता रहा है। यह सत्य है कि नक्षत्रों के ऊपर प्राचीनकाल में जो कार्य हुआ, वही आज तक अध्ययन क्रम में बना हुआ है। फलत: आगे चलकर विश्व में अन्यत्र; नक्षत्रों पर जितना शोध कार्य हुआ उतना भारतवर्ष की पारम्परिक विद्या में नहीं। अत्यन्त प्राचीन काल में कम से कम नक्षत्रों की पहचान की प्रक्रिया तो चलती रही परन्तु आधुनिक युग में अत्यल्प ज्योतिषी हैं, जिनसे यह उम्मीद की जा सकती कि वह राशियों में विद्यमान नक्षत्रों एवं उनके योग-तारों को पहचान पायें। प्राचीनकाल में नक्षत्रों के आधार पर फलादेश की सूक्ष्म प्रक्रिया को बाद में गम्भीर धक्का लगा। आज तो केवल ग्रहयोगों एवं राशियों के ही आधार पर सब कुछ बतलाया जाता है। नक्षत्रों के माध्यम से यदि फलादेश किया जाए और नये- नये शोध कार्य कर इनके प्रभाव को स्थिर किया जाय तो निश्चित तौर से फलादेश में सूक्ष्मता बढ़ेगी। इस कार्य के लिए आधुनिक पद्धतियों और वैज्ञानिक स्थापनाओं का भी आश्रय लिया जा सकता है। भारतीय ज्योतिष में नक्षत्रों की संख्या अभिजित् को लेकर अठाइस

मानी गयी है। बाद में अभिजित् को उत्तराषाढ़ा और श्रवण में अन्तर्निहित कर दिया गया। प्राचीन ग्रन्थों में कई स्थलों पर नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है जो बाद में व्यवहार में अश्विनी से मान लिया गया। भारतीय गणित ग्रन्थों में 'भग्रहयुति' नामक अध्याय में नक्षत्रों पर विशद प्रकाश डाला गया है। अट्ठाइस नक्षत्रों के अतिरिक्त भी कुछ नक्षत्रों की चर्चा गणित ग्रन्थों में उपलब्ध है, जैसे – अगस्त्य, व्याध, अग्नि, ब्रह्मा, प्रजापति, अपांवतस, आप:, लुब्धक आदि।

प्राचीन ज्योतिर्विदों ने अन्वेषण के दौरान यह देखा कि नक्षत्रों के पुंज में अनेक तारे समाहित हैं। कृत्तिका नक्षत्र की छ: ताराओं की चर्चा तो महाभारत और पुराणों में भी आयी है। नक्षत्रों के सम्बन्ध में गणितीय ज्ञान का स्थिर मानदण्ड ध्रुव नक्षत्र को माना गया है। यहाँ तक कि नक्षत्रों के भोग को प्राचीन गणितीय ग्रन्थों में ध्रुव नाम से अभिहित किया गया है। प्राचीन गणित प्रक्रिया में नक्षत्रों के भोग आयनदृक्कर्म से संस्कारित कर निकाले जाते थे। अभीष्ट तारे से नाड़ीवृत पर डाला हुआ लम्ब जहाँ क्रान्ति वृत्त को काटता है; उस बिन्दु से आरम्भ स्थान तक के अन्तर को 'भोग या ध्रुव' कहा गया। तारे से उस बिन्दु तक का अन्तर 'शर' कहलाता है। नक्षत्रों के भोग को निकालने की दो पद्धतियाँ प्राचीनकाल में प्रसिद्ध थीं। प्रथम ध्रुवाभिमुख और द्वितीय कदम्बाभिमुख। आकाश में नक्षत्रों के जो तारे दिखलायी पड़ते हैं; उनके योग तारों को पहचानने में ग्रन्थकारों में मतभेद भी है। प्रसिद्ध नक्षत्रों में तारों के पुंज होते हैं या कहा जा सकता है कि तारों के पुंज से अश्विन्यादि नक्षत्र पहचाने जाते हैं। इनमें से जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण, चमकता और पृथक् पहचान वाला तारा होता है उसे योगतारा कहते हैं। योगतारा के माध्यम से ही कोई भी विशिष्ट नक्षत्र पहचाना जाता है।

3.3.1 नक्षत्र गणना का मूलाधार –

भारतीय ज्योतिष ने नक्षत्र गणना की पद्धति को स्वतन्त्र रूप से खोज निकाला या चीनी, पारसी या अरबी लोगों से प्राप्त किया इस पर यूरोपियन इतिहासकार विशेष सतर्क दृष्टि रखते हुए चर्चा करते हैं। विशेष रूप से जर्मन विद्वान बेबर का मानना है कि नक्षत्र पद्धति हिन्दुओं का नहीं है। इतना ही नहीं बेबर ने तो वेदों के सन्दर्भ में भी बहुत सी अनुपयुक्त बातें लिखी हैं। चीनी लोगों को नक्षत्र का ज्ञान था, परन्तु वे ग्रहगति और अयन चलन जैसे महत्वपूर्ण विषयों को नहीं जानते थे। फलत: नक्षत्र पद्धति से आगे उनका ज्योतिषीय ज्ञान रूक सा गया था। 'ह्विटने और बायो' नामक विद्वान ज्योतिषियों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। ह्विटने ने निष्कर्ष निकाल कर रखा कि चीनी, अरबी और हिन्दुस्तानी पद्धतियों में किसी एक को अन्य दो पद्धतियों का मूल नहीं कहा जा सकता। फिर भी ई0पूर्व ११०० वर्ष चीनी पद्धति भारत पहुँची और तत्पश्चात् सेमिटिक, ईरानी और

अरब लोगों के पास। हमारे महान् ज्योतिष इतिहासकार श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित का कहना है कि भारतीय नक्षत्र पद्धति दृष्टि सिद्ध है जबकि चीनी नक्षत्र पद्धति यन्त्रसिद्ध है। फलत: रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, पू0फा0, उ0फा0, स्वाती, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, अभिजित् और श्रवण का योगतारा भारतीयों ने स्पष्ट लिखा जो देखने में चमकदार और स्पष्ट लगे, जबकि चीनी योगतारे हतप्रभ होने के कारण वेध की मांग रखते थे। ह्विटने, बायो आदि इस बात को जबरदस्ती सिद्ध करते हैं कि नक्षत्र पद्धति सेमिटिक या खाल्डियन है। फिर भी बेबर कम से कम इतना अवश्य कहता है कि यह मान्य नहीं है कि हिन्दुओं ने चीनीयों से नक्षत्र पद्धति सीखी थी।

वस्तुत: नक्षत्र पद्धति भारतीय ऋषि परम्परा की दिव्य अन्तर्दृष्टि से विकसित हुयी है जो आज भी अपने मूल से कटे बिना चली आ रही है।

जब हम सूर्यास्त के पश्चात् आकाश की ओर देखते हैं तो टिमटिमाते नन्हें-नन्हें प्रकाश पुंजों का दर्शन होता है। उन्हें 'नक्षत्र' कहते है। नंगी आँखों से लगभग दोनों गोलार्धों में २५०० × २ = ५००० नक्षत्र दिखलाई पड़ते हैं। क्रान्तिवृत्त अर्थात् राशिचक्र के अन्तर्गत २७ पुंजात्मक नक्षत्रों को मुख्य मानकर ज्योतिष शास्त्र में विभिन्न रूपक विचार किया जाता है। तैत्तरीय संहितोक्त अनन्त नक्षत्रों में से मुख्य रूप से सूर्य-चन्द्र तथा तारा ग्रहों के संचरण मार्ग में पड़ने वाले नक्षत्रों का ही मुख्य विचार किया जाता है। चन्द्रमार्ग के अन्तर्गत २७ नक्षत्रों के नाम निम्नलिखित है-

१. अश्विनी	२. भरणी	३. कृत्तिका	४. रोहिणी	५. मृगशिरा	६. आर्द्रा
७. पुनर्वसु	८. पुष्य	९. आश्लेषा	१०. मघा	११. पू0फा0	१२. उ0फा0
१३. हस्त	१४. चित्रा	१५. स्वाती	१६. विशाखा	१७. अनुराध	१८. ज्येष्ठा
१९. मूल	२०. पू0षा0	२१. उ0षा0	२२. श्रवण	२३.धनिष्ठा	२४. शतभिषा
२५. पू0भा0	२६. उ0भा0	२७. रेवती			

इस प्रकार अश्विनी से रेवती तक स्थिर निरयण नक्षत्र पुंजविभाग २७ है। इसे राशिमण्डल कहते हैं। स्थूल नक्षत्रगणना में व्यवहार सिद्धि के लिए ३६०° /२७ = १३°/२०। (१३° × ६०) + २० = ८०० कला का एक नक्षत्र होता है। एक नक्षत्र का चतुर्थांश ८००/४ = २०० कला का एक नक्षत्र चरण होता है।

चन्द्र सौर नक्षत्र भोग भेद – १३°।२० अर्थात् ८०० को पार करने में सूर्य, चन्द्र तथा ग्रहों को पार करने में जितना समय लगता है, उसे 'नक्षत्रभोग काल' या 'नक्षत्रमान' कहते है। चन्द्रमा एक दिन में एक नक्षत्र का भोग पूर्ण करता है। सभी ग्रहों के गति भेद से नक्षत्रभोग काल अलग-अलग होता है।

पंचांग में दैनिक चान्द्रनक्षत्र दिया जाता है। २०० कला का एक नक्षत्र चरण है। ० से लेकर २०० कला तक प्रथम चरण। २०० कला से ४०० कला तक द्वितीय चरण। ४०० से ६०० कला तृतीय चरण और ६०० से ८०० कला पर्यन्त चतुर्थ चरण होता है। इसीलिए २७ नक्षत्र × ४ = १०८ चरणात्मक नक्षत्रपुंज कहा गया है।

विशेष – सूक्ष्म नाक्षत्रपद्धति में अभिजित नक्षत्र सहित २८ नक्षत्र ग्रहण किये जाते हैं। एक नाक्षत्र अहोरात्र ६० घटी = २४ घंटे का होता है। ३० अहोरात्र = १ मास, १२ मास = १ वर्ष। अहोरात्र का घटयात्मक विभाग नाक्षत्रमान ६० घटी का स्थिर मान है। ग्रहों की तरह नक्षत्रों में पूर्व-पूर्व गति नहीं होती। ये भूपृष्ठ से अचलवत् दृश्य होते हैं।

3.3.2 ध्रुवादि संज्ञायें, चरणों के आधार पर नामकरण, अध:, उर्ध्व तथा तिर्यक संज्ञायें तथा क्षय-वृद्धि विचार

नक्षत्रों की ध्रुवादि संज्ञायें –

दिन (ग्रह) के योग से इनकी मृदु ध्रुवादि संज्ञायें मुहूर्त्त ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। आप इस प्रकार जान सकते हैं –

क्रम संख्या	नक्षत्र तथा दिन (ग्रह)	संज्ञायें	नक्षत्र तथा दिन (ग्रह)	संज्ञायें
1.	अश्विनी + गुरु	क्षिप्र, लघुसंज्ञक	भरणी + मंगल	उग्र, क्रूरसंज्ञक
2.	कृत्तिका + बुध	मिश्र, मिश्रितसंज्ञक	रोहिणी + सूर्य	ध्रुवस्थिरसंज्ञक
3.	मृगशिरा + शुक्र	मृदु, सौम्यसंज्ञक	आर्द्रा + शनि	तीक्ष्ण, तीव्रसंज्ञक
4.	पुनर्वसु + चन्द्र	चर, चंचलसंज्ञक	पुष्य + गुरु	लघु, क्षिप्र0
5.	आश्लेषा+ शनि	तीक्ष्ण, तीव्र	मघा + शनि	तीक्षण,तीव्र
6.	पू0फा0 +मंगल	उग्रसंज्ञक	उ0फा0 +सू0	ध्रुवसंज्ञक
7.	हस्त + गुरु	क्षिप्र,लघु	चित्रा + शु	मृदु
8.	स्वाती+ सोम	चरसंज्ञक	विशाखा+ बु	मिश्र
9.	अनुराधा+ शुक्र	मृदु	ज्येष्ठा+शनि	तीक्ष्णसंज्ञक
10.	मूल+ शनि	तीक्ष्ण	पू0षा0+ मंगल	उग्रसंज्ञक
11.	उ0षा0 + रवि	ध्रुवसंज्ञक	अभि0+ गुरु	क्षिप्र
12.	श्र0+ सोम	चरसंज्ञक	ध0 + सोम	चरसंज्ञक
13.	शत0 + सोम	चरसंज्ञक	पू0भा0 + मं0	उग्र
14.	उ0भा0 + सू0	ध्रुवसंज्ञक	रे0 + शु0	मृदुसंज्ञक

चन्द्रमा २७ नक्षत्रों का भोग २७.३२ दिनों में मध्यम मान से पूर्ण करता है। १.११८ दिवस में मध्यमान से एक नक्षत्र का चारों चरण का भोग पूर्ण करना है। ग्रहों के सूक्ष्म निरयण भोगांश से उसका नक्षत्र उपर्युक्त कोष्ठक से सुगमता से जान सकते हैं। यथा – १-१५°-२५ पर यदि सूर्य या कोई ग्रह है तो वह वृष के १६ पर है, तथा रोहिणी नक्षत्रपुंज के द्वितीय चरणान्त के समीप है, यह जान पाते है। इस प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

चरणों के आधार पर नामकरण एवं नक्षत्र –

एक नक्षत्र का भोग १३°।२० = ८०० कला। ये नक्षत्र चरण का भोग ३°/२०= २०० कला =१ राशि = ९ चरण। ३६०° = १२ राशि = १२× ९ = १०८ चरण। १ नक्षत्र १३°/२० = ३°/२० = ४ चरण। नक्षत्र भभोग/४ = १ चरण घटयात्मक

जन्मेष्ट काल नक्षत्र के जिस चरण में पड़ा है, उसे नक्षत्र चरण मानकर जातक का नामकरण तथा चन्द्रराशि निर्धारण किया जाता है। वर्णाक्षर तथा स्वर ज्ञान नक्षत्र चरण तथा राशि का ज्ञान कोष्ठक की सहायता से सुगमता से जान सकते है। यथा अश्विनी का प्रथम चरण उकार स्वर युक्त चकार वर्ण, चु, द्वितीय चरण एकार स्वर युक्त चकार वर्ण चे, तृतीय चरण ओंकार स्वर युक्त चकार वर्ण चो तथा चतुर्थ चरण आकार स्वर युक्त लकाराद्य अक्षर ला है। इस नक्षत्र का अश्वयोनि, देवगण, आद्य नाड़ी, क्षत्रिय वर्ण, चतुष्पद वश्य, योनि शत्रु महिष, मेषराशि तथा राशिस्वामी मंगल है। नक्षत्र चरणाक्षर से बालक के जन्म का नामकरण करते हैं।

नक्षत्रों के घटयादि तथा घण्टात्मक मान –

उदाहरण के लिए – माना कि किसी तिथि को शतभिषा नक्षत्र का मान २९ घटी २७ पल है, सूर्योदय ५ घण्टा ११ मिनट है। इसका घण्टात्मक प्रमाण क्या है?

सूत्रानुसार – २९/२७ × २/५ = ५८-५४/५ = ११ घंटा ४७ मिनट।

सूर्योदय ५ घंटा ११ मिनट + शतभिषा ११ घंटा ४७ मिनट = १६ घण्टा ५८ मिनट तक शतभिषा नक्षत्र तत्पश्चात् पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र जानना चाहिये।

नक्षत्रों की अध:, उर्ध्व तथा तिर्यक मुख संज्ञा –

अधोमुखी नक्षत्र	उर्ध्वमुखी नक्षत्र	तिर्यक मुखी नक्षत्र
मूल	आर्द्रा	मृगशिरा
आश्लेषा	पुष्य	रेवती
कृत्तिका	श्रवण	चित्रा
विशाखा	धनिष्ठा	अनुराधा
पू0फा0	शतभिषा	हस्त

पू0षा0	उत्तराफाल्गुनी	स्वाती
पू0भा0	उत्तराषाढ़ा	पुनर्वसु
मघा	उत्तराभाद्रपद	ज्येष्ठा
भरणी	रोहिणी	अश्विनी

नक्षत्र क्षय-वृद्धि -

१. तिथि के समान नक्षत्रों के भी क्षय तथा वृद्धि उसी तरह जाना जाता है। चन्द्रमा जब उच्च के पास होता है तो गति की न्यूनता से नक्षत्रमान अधिक तथा नीचासन्न में गति की अधिकता से नक्षत्रमान (समयात्मक) कम होता है।

२. जिस नक्षत्र में सूर्योदय न हो उसे क्षयसंज्ञक नक्षत्र कहते है। नक्षत्रमान पंचांग में पार्श्व में लिखे रहते हैं। परमाल्प नक्षत्रमान से सूर्योदय काल में अप्राप्त नक्षत्र क्षयसंज्ञक होता है।

३. जिस नक्षत्र में दो सूर्योदय हो उस नक्षत्र की वृद्धि संज्ञा होती है। नक्षत्रमान ६० घटी से अधिक तथा तीन दिवस को स्पर्श करता है तथा दो सूर्योदय से सम्बद्ध होता है।

४. नक्षत्रमान स्वान्त समय के अुनसार प्रतिदिन चान्द्र नक्षत्र पंचांग में दिया जाता है।

अभ्यास प्रश्न -1

1. प्राचीनकाल में नक्षत्रों के भोग को निकालने की कितनी पद्धतियाँ प्रसिद्ध थीं?
   क. दो ख. चार ग. छ: घ. 8
2. शंकरबालकृष्ण दीक्षित के अनुसार भारतीय नक्षत्र पद्धति है-
   क. दृष्टिसिद्ध ख. यन्त्रसिद्ध ग. वेधसिद्ध घ. कोई नहीं
3. चीनी नक्षत्र पद्धति है?
   क. वेधसिद्ध ख. नलिकासिद्ध ग. यन्त्रसिद्ध घ.दृष्टिसिद्ध
4. अभिजित सहित नक्षत्रों की संख्या कितनी हैं?
   क. २५ ख. २६ ग. २७ घ. २८
5. नक्षत्र का एक चरण कितने कलाओं का होता हैं?
   क. १०० कला ख. ६० कला ग. २०० कला घ. १३ अंश २० कला
6. १ अंश में कितनी कलायें होती हैं?
   क. १०० कला ख. २०० कला ग.६० कला घ. ३० कला

3.4 नक्षत्र साधन –

आकाश में निरयण मेषादि बिन्दु से राशिवृत्त (क्रान्तिवृत्त) के तुल्य २७ नक्षत्रों में यदि १२ राशिकला = १२ × ३०×६० = २१६०० कला मिलती है, तो एक नक्षत्र में कितनी कला अनुपात से ८०० कला = एक नक्षत्र की भोगकला।

पंचांग साधनोपयोगी चान्द्र नक्षत्र ज्ञान के लिए अनुपात करना होगा कि, यदि भ (नक्षत्र) भोग ८०० कलाओं में एक नक्षत्र मिलता है तो चन्द्र कलाओं में क्या?

$$\frac{\text{१ नक्षत्र चन्द्रकला}}{८००} = \text{लब्धि} + \frac{\text{शे.कला}}{८००} \quad \text{लब्धि} = \text{गतचान्द्रनक्षत्र}$$

यहाँ शेष = वर्तमान नक्षत्र का भुक्तमान (कलात्मक)। नक्षत्र से घटीपलात्मक मान ज्ञात करने के लिए पुन: अनुपात करना होगा कि – यदि चन्द्रगति कलाओं में एक दिन में ६० घटी पाते हैं तो चन्द्र की भुक्त एवं भोग्यकलाओं में क्या?

$$\frac{\text{६० घटी} \times \text{भुक्तकला}}{\text{चन्द्रगतिकला}} = \text{वर्तमान नक्षत्र का भुक्तमान (घटी, पल में)}$$

$$\frac{\text{६० घटी} \times \text{भोग्यकला}}{\text{चन्द्रगतिकला}} = \text{वर्तमाननक्षत्र का भोग्यमान (घटी, पल में)}$$

भुक्त + भोग्य = नक्षत्र का पूर्ण भोग्यमान (घटीपलात्मक)।

नक्षत्रमान पंचांग में चान्द्रनक्षत्र कहलाता है। चन्द्रमा के नक्षत्र का दैनिकसाधन उपर्युक्त प्रकार से करना चाहिए। अन्य ग्रहों तथा सूर्य के नक्षत्रसंचार ग्रहगति तथा ग्रहभुक्तकला की निष्पत्ति से पूर्ववत् लाया जाता है। यथा – ग्रहराश्यादि को {(ग्रहराशि × ३०˚) + अंशादि} × ६० + कलादि = ग्रहकला।

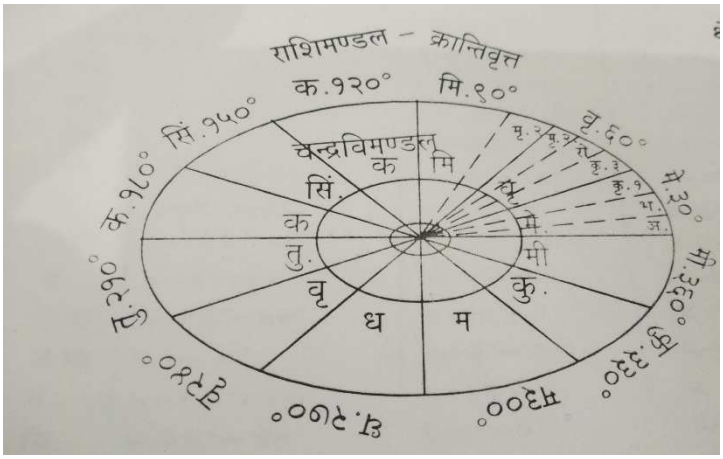

ग्रहराश्यादिकला ÷ ग्रहगति = लब्धि + शेष/ग्रहगति।

यहाँ लब्धि गतनक्षत्र होता है। शेषकला ग्रहाधिष्ठित नक्षत्र की भुक्तकला होती है। नक्षत्र प्रवेश तथा संचारकाल में घटयादि ज्ञान उपर्युक्त प्रकार से करना चाहिए।

जब किसी नक्षत्र में दो सूर्योदय हो तो, उसे नक्षत्रवृद्धि कहते है। इस प्रकार का चान्द्रनक्षत्र तीन दिनों का स्पर्श करता है। अर्थात् पूर्वदिन के अन्त से प्रारम्भ होकर द्वितीय दिन ६० घटी पूर्णकर तृतीय दिवस में भी कुछ समय तक रहता है। उदाहरण के लिए -

माना कि सप्तमी तिथि, सोमवार को विशाखा नक्षत्र की घटयादि समाप्तिकाल ५४/२६ है। तत्पश्चात् ६० घटी – ५४ घ. २६ प. = ५ घटी ३४ पल, उसी दिन अनुराधा नक्षत्र है। अष्टमी मंगल को अनुराधा का घटयादिमान ६० घटी है। नवमी बुधवार को इसका मान ० घटी ८ पल है। इस प्रकार की स्थिति को नक्षत्रवृद्धि कहते हैं। नक्षत्रमान ६० घटी से अधिक होता है।

जिस नक्षत्र में सूर्योदय नहीं हो उसे 'नक्षत्रक्षय' कहते हैं। इस स्थिति में सूर्योदय के पश्चात् पूर्वनक्षत्र समाप्त होता है। द्वितीय सूर्योदय से पूर्व ही तृतीय नक्षत्र का आरम्भ होता है। मध्य में नक्षत्र क्षय का मान दिया जाता है। उदाहरण के लिए –

यथा भाद्रकृष्ण तृतीया, शुक्रवार को उत्तराभाद्रपद २ घटी ५४ पल पर समाप्त होकर इसी दिन रेवती नक्षत्र ५६ घटी ४ पल है। तत्पश्चात् अश्विनी नक्षत्र ५८ घटी ५८ पल के बाद प्रारम्भ होगा। अत: सूर्योदय रहित चान्द्रनक्षत्र को 'नक्षत्रक्षय' कहते है। इस स्थिति में पूर्वनक्षत्रमान में क्षयनक्षत्रमान जोड़ने पर तृतीयनक्षत्र का प्रारम्भकाल घण्टादि वा घटयादि काल पूर्व प्रदत्त रीति से प्राप्त होता है।

3.4.1 नक्षत्र फल –

आश्विन्यामतिबुद्धिवित्तविनयप्रज्ञायशस्वी सुखी
याम्यर्क्षे विकलोऽन्यदारनिरत: क्रूर: कृतघ्नी धनी।
तेजस्वी बहुलोद्भव: प्रभुसमोऽमूर्खश्च विद्याधनी
रोहिण्यां पररन्ध्रवित्कृशतनुर्बोधी परस्त्रीरत: ।।

अश्विनी नक्षत्र में जन्म हो तो जातक अतिबुद्धिमान, धनिक, विनयी, बुद्धिमान, यशस्वी और सुखी होता है। **भरणी** नक्षत्रोत्पन्न जातक विकल, पराई स्त्री में अनुरक्त, क्रूरमना, कृतघ्न और धनाढय होता है। जिसका जन्मर्क्ष **कृत्तिका** हो वह तेजस्वी, राजा के समान बुद्धिमान और विद्वान होता है। **रोहिणी** नक्षत्र में जन्म लेने वाला व्यक्ति परछिद्रान्वेषी, कृशांग और परस्त्रीगामी होता है।

चान्द्रे सौम्यमनोऽटन: कुटिलदृक् कामातुरो रोगवान्
आर्द्रायामधनश्चलोऽधिकबल: क्षुद्रक्रियाशीलवान्।

मूढात्मा च पुनर्वसौ धनबलख्यातः कविः कामुक-
स्तिष्ये विप्रसुरप्रियः सघनधी राजप्रियो बन्धुमान्।

मृगशिरा नक्षत्रोत्पन्न व्यक्ति सौम्य स्वभाव का, यायावर, वक्रदृष्टि, कामातुर और रोगी, **आर्द्रा** नक्षत्र में जन्मा जातक निर्धन, चंचलमति,बलवान्, नीचकर्मी, **पुनर्वसु** नक्षत्र में जन्मा व्यक्ति मूढ जडमति , धन - बलसम्पन्न , वित्व शक्तियुक्त, कामातुर, **पुष्य** जन्मर्क्ष हो तो जातक देव - द्विज का भक्त, अतिबुद्धिमान, राजा का प्रिय और स्वजनों एवं बन्धु - बान्धवों से युक्त होता है।

सार्पे मूढमतिः कृतघ्नवचनः कोपी दुराचारवान्।
गर्वी पुण्यरतः कलत्रवशगो मानी मघायां धनी ॥
फल्गुन्यां चपलः कुकर्मचरितस्त्यागी दृढः कामुको।
भोगी चोत्तरफल्गुनीभजनितो मानी कृतज्ञः सुधीः॥

आश्लेषा नक्षत्रोत्पन्न व्यक्ति मूर्ख, कृतघ्न, क्रोधी और दुराचारी होता है। **मघा** नक्षत्रोद्भव जातक अभिमानी, पुण्यात्मा, स्त्री के वशीभूत, मान और धन से युक्त होता है। **पूर्वाफाल्गुनी** नक्षत्र में जन्मा जातक चंचलमन, दुष्कर्मरत, त्यागी और अतिकामी होता है। **उत्तराफाल्गुनी** नक्षत्र में जन्म लेने वाला व्यक्ति भोगयुक्त, अभिमानी, कृतज्ञ और बुद्धिसम्पन्न होता है।

हस्तर्क्षे यदि कामधर्मनिरतः प्राज्ञोपकर्ता धनी।
चित्रायामतिगुप्तशीलनिरतो मानी परस्त्रीरतः॥
स्वातयां देवमहीसुरप्रियकरो भोगी धनी मन्दधी।
गर्वी दारवशो जितारिरधिकक्रोधी विशाखोद्भवः॥

हस्त नक्षत्र में जन्म हो तो जातक काम और धर्म में लीन, बुद्धिमान, परोपकारी और धनी होता है। जिसका जन्मर्क्ष **चित्रा** हो वह गोपनीयता रखने वाला, मानयुक्त और परस्त्रीरत होता है। **स्वाती** नक्षत्रोद्भव जातक देव – द्विज भक्त, सांसारिक भोगों से युक्त और मन्दबुद्धि होता है। **विशाखा** नक्षत्रोपन्न जातक घमण्डी, स्त्री के वश में रहने वाला, शत्रुञ्जयी और अत्यन्त क्रोधी होता है।

मैत्रे सुप्रियवाग् धनीः सुखरतः पूज्यो यशस्वी विभु –
र्ज्येष्ठायामतिकोपवान् परवधूसक्तो विभुर्धार्मिकः।
मूलर्क्षे पटुवाग्विधूतकुशलो धूर्तः कृतघ्नो धनी
पूर्वाषाढभवो विकारचरितो मानी सुखी शान्तधीः॥

अनुराधा नक्षत्रोत्पन्न जातक प्रियभाषी, धनिक, सुखी, पूजनीय, यशस्वी और वैभवसम्पन्न होता

है। **ज्येष्ठा** नक्षत्र में जन्मा जातक अत्यन्त क्रोधी, परस्त्री में आसक्त, वैभवशाली और धार्मिक होता है। **मूल** नक्षत्रोत्पन्न जातक वाक्चतुर , अविश्वसनीय , धूर्त, कृतघ्न और धनवान् होता है। **पूर्वाषाढा** नक्षत्र में उत्पन्न व्यक्ति विकृत चरित्र, मानयुक्त , सुखसम्पन्न और शान्त बुद्धि का व्यक्ति होता है।

मान्यः शान्तगुणः सुखी च धनवान् विश्वर्क्षजः पण्डितः।
श्रोणायां द्विजदेवभक्तिनिरतो राजा धनी धर्मवान्॥
आशालुर्वसुमान वसूद्भुजनितः पीनोरूकण्ठः सुखी।
कालज्ञः शततारकोद्भवनरः शान्तोऽल्पभुक् साहसी॥

उत्तराषाढा नक्षत्र में उत्पन्न व्यक्ति मान्य, शान्त, गुणवान, सुखी, धनिक और विद्वान होता है। **श्रवणर्क्षोत्पन्न** जातक द्विज – देवभक्त, राजा, धनी और धर्मानुरागी होता है। **धनिष्ठा** नक्षत्र में जन्मा व्यक्ति आशावान्, धनिक होता है और उसके कण्ठ एवं उरू प्रदेश स्थूल होते हैं। **शतभिषा** नक्षत्रोद्भव व्यक्ति काल को जानने वाला, शान्तचित्त, अलपभोजी और साहसी होता है।

पूर्वप्रोष्ठपदि प्रगल्भवचनो धूर्तो भयार्तो मृदु
श्चाहिर्बुध्न्यजमानवो मृदुगुणस्त्यागी धनी पण्डितः।
रेवत्यामुरूलाञ्छनोपगतनुः कामातुरः सुन्दरो
मन्त्री पुत्रकलत्रमित्रसहितो जातः स्थिरः श्रीरतः॥

पूर्वाभाद्रपद नक्षत्रोपन्न जातक शौर्ययुक्त वचन वक्ता, धूर्त, भीरू और मृदु स्वभाव का होता है। **उत्तराभाद्रपद** नक्षत्र में जन्म लेने वाला व्यक्ति सात्विक वृत्ति का, त्यागी, धनवान और विद्वान होता है। **रेवती** नक्षत्र में जन्म लेने वाले व्यक्ति की जंघाएँ लाञ्छन युक्त होती हैं, वह कामातुर, सुदर्शन, राजमन्त्री, स्त्री और पुत्रों से युक्त, धीर और वैभव सम्पन्न होता है।

चन्द्रमा और सूर्य के योग से विष्कम्भादि कुल २७ योग होते हैं। इनका फल इस प्रकार है –

अभ्यास प्रश्न – 2

बहुवैकल्पिक प्रश्न –

1. भचक्र कला का मान होता है –

   क. २१००० ख.२१६०० ग. २२००० घ. २३०००

2. १३°।२० = ?

   क. १ तिथि ख. १ नवमांश ग. १ नक्षत्र घ. १ राशि

3. जब किसी नक्षत्र में दो सूर्योदय हो तो, उसे क्या कहते है?

क. नक्षत्रवृद्धि ख. नक्षत्रक्षय ग. क्षयतिथि घ. तिथिवृद्धि

4. जिस नक्षत्र में सूर्योदय नहीं हो उसे क्या कहते हैं?

क. शुक्ल ख. नक्षत्रक्षय ग. दोनों घ. कोई नहीं

5. नक्षत्रों के क्रम में पुष्य के पश्चात् कौन आता है?

क.आश्लेषा ख. मघा ग. पू0फा0 घ. उ0फा0

3.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि ग्रह और तारों के साथ-साथ नक्षत्रों पर भी भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अन्वेषण किया जाता रहा है। यह सत्य है कि नक्षत्रों के ऊपर प्राचीनकाल में जो कार्य हुआ, वही आज तक अध्ययन क्रम में बना हुआ है। फलत: आगे चलकर विश्व में अन्यत्र; नक्षत्रों पर जितना शोध कार्य हुआ उतना भारतवर्ष की पारम्परिक विद्या में नहीं। अत्यन्त प्राचीन काल में कम से कम नक्षत्रों की पहचान की प्रक्रिया तो चलती रही परन्तु आधुनिक युग में अत्यल्प ज्योतिषी हैं, जिनसे यह उम्मीद की जा सकती कि वह राशियों में विद्यमान नक्षत्रों एवं उनके योग-तारों को पहचान पायें। प्राचीनकाल में नक्षत्रों के आधार पर फलादेश की सूक्ष्म प्रक्रिया को बाद में गम्भीर धक्का लगा। आज तो केवल ग्रहयोगों एवं राशियों के ही आधार पर सब कुछ बतलाया जाता है। नक्षत्रों के माध्यम से यदि फलादेश किया जाए और नये- नये शोध कार्य कर इनके प्रभाव को स्थिर किया जाय तो निश्चित तौर से फलादेश में सूक्ष्मता बढ़ेगी। इस कार्य के लिए आधुनिक पद्धतियों और वैज्ञानिक स्थापनाओं का भी आश्रय लिया जा सकता है। भारतीय ज्योतिष में नक्षत्रों की संख्या अभिजित् को लेकर अठाइस मानी गयी है। बाद में अभिजित् को उत्तराषाढ़ा और श्रवण में अन्तर्निहित कर दिया गया। प्राचीन ग्रन्थों में कई स्थलों पर नक्षत्रारम्भ कृत्तिका से है जो बाद में व्यवहार में अश्विनी से मान लिया गया। भारतीय गणित ग्रन्थों में 'भग्रहयुति' नामक अध्याय में नक्षत्रों पर विशद प्रकाश डाला गया है। अट्ठाइस नक्षत्रों के अतिरिक्त भी कुछ नक्षत्रों की चर्चा गणित ग्रन्थों में उपलब्ध है, जैसे – अगस्त्य, व्याध, अग्नि, ब्रह्मा, प्रजापति, अपांवतस, आप:, लुब्धक आदि। वस्तुत: नक्षत्र पद्धति भारतीय ऋषि परम्परा की दिव्य अन्तर्दृष्टि से विकसित हुयी है जो आज भी अपने मूल से कटे बिना चली आ रही है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

नक्षत्र – न क्षरतीति नक्षत्रम्। जिसमें गति न हो, जो स्थिर हो उसे नक्षत्र कहते है। राशियों के समूह को भी नक्षत्र कहा जाता है।

भचक्र – 'भ' का अर्थ राशि होता है। राशिचक्र को 'भचक्र' कहते हैं। इसका सम्पूर्ण मान ३६०° होता है।

नक्षत्रवृद्धि – जब किसी नक्षत्र में दो सूर्योदय हो तो, उसे नक्षत्रवृद्धि कहते हैं।

नक्षत्रक्षय – जिस नक्षत्र में सूर्योदय नहीं हो उसे नक्षत्रक्षय कहा जाता हैं।

नाक्षत्रमान – नक्षत्र सम्बन्धित मान नाक्षत्रमान कहलाता है।

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 की उत्तरमाला

1. क 2. क 3. ग 4. घ 5. ग 6. ग

अभ्यास प्रश्न -2 की उत्तरमाला

1. ख 2. ग 3. क 4. ख 5. क

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शास्त्रशुद्ध पंचांग निर्माण की दृष्टि से सूर्यसिद्धान्त की समीक्षा - प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
2. पंचांग साधन – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
3. ज्योतिष शास्त्र – डॉ0 कामेश्वर उपाध्याय
4. भारतीय ज्योतिष – डॉ0 शंकरबालकृष्ण दीक्षित

3.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. पंचांग परिचय – प्रोफेसर भास्कर शर्मा
2. संवत्सरावली – टिकाकार, पं. हीरालाल मिश्र
3. भारतीय ज्योतिष – आचार्य शंकरबालकृष्ण दीक्षित
4. भारतीय ज्योतिष – डॉ0 नेमिचन्द शास्त्री
5. ज्योतिष शास्त्र – डॉ0 कामेश्वर उपाध्याय

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. नक्षत्र को परिभाषित करते हुए विस्तृत वर्णन कीजिये।
2. स्वकल्पित नक्षत्र साधन कीजिये।
3. नक्षत्रों की ध्रुवादि संज्ञा का उल्लेख कीजिये।
4. अश्विन्यादि नक्षत्रों में उत्पन्न जातक का फल लिखिये।
5. नक्षत्रों का सैद्धान्तिक विवेचन कीजिये।

इकाई – 4 योग साधन

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 योग परिचय

4.3.1 योग साधक सूत्र

4.3.2 योग साधन

4.4 योग क्षय तथा वृद्धि एवं योग फल

4.5 सारांश

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.9 सहायक पाठ्यसामग्री

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई -103 के द्वितीय खण्ड की चतुर्थ इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – योग साधन। इससे पूर्व की इकाईयों में आपने नक्षत्र के बारे में अध्ययन कर लिया है। अब आप पंचांग के और एक रूप **योग** के बारे अध्ययन करने जा रहे हैं।

ज्योतिष में मुख्यत: दो प्रकार के योग कहे गये है। एक आनन्दादि योग एवं दूसरा विष्कुम्भादि योग। विष्कुम्भादि योग चलायमान एवं आनन्दादि योग स्थिर कहे गये हैं।

आइए इस इकाई में योग का ज्ञान करते हुए उसके गणितीय अवयवों को भी समझने का प्रयास करते है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- जान लेंगे कि योग किसे कहते है।
- को ज्ञात हो जायेगा कि योग का मान कितना होता है।
- योग के गणितीय अवयव को समझ लेंगे।
- अच्छी तरह से योग का साधन कैसे किया जाता है, जान जायेंगे।

4.3 योग परिचय

ज्योतिषशास्त्र में तिथि, नक्षत्र की अपेक्षा योगों का समावेश कब हुआ यह कहना अत्यन्त जटिलता से पूर्ण विषय है। तिथि और नक्षत्र की उपस्थिति का ज्ञान खगोलीय कारणों से स्पष्ट और गणित साध्य था, पर योगों की परिकल्पना अपेक्षाकृत दुरूह थी। चन्द्र-सूर्य का अन्तरात्मक मान तिथि थी तो वहाँ उसे मूर्तरूप देने के लिए चन्द्रकलायें भी थीं। चन्द्र सूर्य का संयोगात्मक मान एक वर्ष में कितना भगण पैदा कर सकता है और एक वृत्तात्मक परिभ्रमण में उसका कितना प्रतिदिवसीय मान उत्पन्न हो सकता है यह शोध और परिकल्पना का विषय था। यद्यपि आचार्यों के मन में यह विषय गणितीय दृष्टि से शीघ्र ही कौंध गया होगा कि यदि चन्द्र-सूर्य का वियोगात्मक मान तिथि जैसे महत्वपूर्ण तत्व को उत्पन्न कर सकता है तो उन दोनों का संयोगात्मक मान भी अवश्य ही सद्भाव में होगा। फलत: इन्हें 'योग' नाम से ही अभिहित किया गया।

अथर्वज्योतिष में योगों के नाम नहीं आये हैं, पर दो स्थानों पर योग के सन्दर्भ में उल्लेख हुआ है –

वारश्चाष्ट गुण: प्रोक्त: करणं षोडशान्वितम्।
द्वात्रिंशत् गुणयोगश्च ताराषष्टि समन्विता।।

वार का आठ गुना, करण का सोलह गुना, योग का बत्तीस गुना, तारा का साठ गुना फल होता है।

एवं नक्षत्रयोगेषु त्रिषु कर्म समारभेत्।
धर्मार्थकर्मणामर्थे स्वकर्म फलमश्नुते।।

अथर्वज्योतिष का आदेश है कि – धर्म, अर्थ, काम के विषय में शुभ नक्षत्र योग में कार्यारम्भ करना चाहिए। त्रिवर्ग साधन में व्यक्ति अपने कर्मों का फल प्राप्त करता है।

आर्चज्योतिष और महात्मा लगध के काल से अथर्वज्योतिष दो सौ वर्षों से अधिक अर्वाचीन नहीं हो सकता। अत: ई0पू0 २८००० वर्ष में योगों का प्रवेश भारतीय ज्योतिष में हो चुका था। इन योगों का नाम और क्रम यहाँ उपलब्ध नहीं है। भारतीय ज्योतिष के इतिहास में संहिता ग्रन्थों का विचार, काल प्रमाण आदि छोड़ दिया गया है। इसीलिए बहुत कठिन समस्या तब खड़ी होती है जब तारतम्य -बद्ध विषयगत विचार आरम्भ होता है।

'वसिष्ठ संहिता' प्राचीनतम संहिता ग्रन्थों में गिना जाता है। इसमें सत्ताइस योगों का वर्णन इस प्रकार से है –

विष्कम्भ: प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्य: शोभनाह्वय:।
अतिगण्ड: सुकर्माख्यो धृति: शूलोऽथ गण्डक:।।
वृद्धिर्ध्रुवाख्यो व्याघातो हर्षणो वज्रसंज्ञक:।
सिद्धियोगो व्यतीपातो वरीयान् परिघ: शिव:।।
सिद्धि: साध्य: शुभ: शुक्लो ब्रह्मन्द्रो वैधृति: स्मृत:।
सप्तविंशतियोगोस्ते स्वनामफलदा: स्मृता:।।

ये सत्ताइस योग निम्नलिखित क्रम में हैं – विष्कम्भ, प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य, शोभन,अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल, गण्ड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्धियोग, व्यतीपात, वरीयान, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्म, ऐन्द्र और वैधृति। वसिष्ठ संहिता में सिद्धियोग एवं सिद्धि का वर्णन है। बाद के आचार्यों ने सिद्धि और सिद्ध- साध्य क्रम का वर्णन किया है। सिद्धि योग का दो बार आना उपयुक्त नहीं है। अत: एक सिद्धि और दूसरा सिद्ध योग होना चाहिए।

पंचांगों में दो प्रकार के योग दिये जाते हैं – पहला विष्कम्भादि योग और दूसरा आनन्दादि योग। विष्कम्भ आदि योगों की परिकल्पना गणितीय है। यह सूर्य चन्द्र के स्पष्ट योग पर आश्रित है। ज्योतिषशास्त्र के विकासक्रम में तिथि और नक्षत्र का गणित सर्वप्रथम आया। योग का गणित बाद में

आया है। अत: विष्कम्भादि योगों की परिकल्पना गणितीय है। यह सूर्य चन्द्र के स्पष्ट योग पर आश्रित है। ज्योतिषशास्त्र के विकासक्रम में तिथि और नक्षत्र का गणित सबसे पहले आया। योग का गणित बाद में आया है। अत: विष्कम्भादि योग मौलिक योग कहे जायेंगे, जबकि आनन्दादि योग वार और नक्षत्र के संयोग से कल्पित हैं। आनन्दादि योगों की उत्पत्ति फलितविकास की बाद की उपलब्धि है, जबकि विष्कम्भादि योग तिथि की तरह सूर्य चन्द्र के संयोग की उपलब्धि है। इन योगों का ज्योतिषशास्त्र के विकास की आरम्भिक स्थिति को सुदृढ़ करने में स्थान है।

योगों के देवता या स्वामी का निर्धारण फलित ज्योतिष की स्थापना है। नारद ऋषि के अनुसार ये देवता निम्नलिखत क्रम में हैं –

विष्कम्भ = यम, प्रीति= विष्णु, आयुष्मान = चन्द्र, सौभाग्य = ब्रह्मा, शोभन= वृहस्पति, अतिगण्ड = चन्द्र, सुकर्मा = इन्द्र, धृति = जल, शूल = सर्प, गण्ड = अग्नि, वृद्धि = सूर्य, ध्रुव= भूमि, व्याघात= वायु, हर्षण= भग, वज्र= वरूण, सिद्धि= गणेश, व्यतीपात= रूद्र, वरीयान्= कुबेर, परिघ = विश्वकर्मा, शिव = मित्र, सिद्ध= कार्तिकेय, साध्य = सावित्री, शुभ = लक्ष्मी, शुक्ल = पार्वती, ब्रह्म= अश्विनी, ऐन्द्र = पितर और वैधृति = दिति।

इन योगों में वैधृति और व्यतीपात विवाह आदि शुभकर्मों में त्याज्य हैं। ज्योतिषशास्त्र के संहिता ग्रन्थों में योगों को पर्याप्त महत्व प्राप्त है।

शुभ योग – उक्त विष्कुम्भादि सत्ताइस योगों में प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य, शोभन, सुकर्मा, धृति, वृद्धि, ध्रुव, हर्षण, सिद्धि, वरियान, शिव, सिद्धि, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्म एवं ऐन्द्र नामक योग शुभ योग कहे गये हैं।

अशुभ योग – उक्त योगों में विष्कुम्भ, अतिगण्ड, शूल, गण्ड, व्याघात, वज्र, व्यतिपात, परिघ एवं वैधृति नामक योग अशुभ कहे गये हैं।

4.3.1 योग साधक सूत्र-

(सूर्यांशकला + चन्द्रांशकला) ÷ ८०० कला = गतयोग + शेषकला/८००। ८०० कला – शेषकला = योग भोग्यकला। (शेषकला × ६० घटी) ÷ ८०० = वर्तमान योगभुक्त घटयादि। भोग्यकला × ६० घटी ÷ ८०० = वर्तमान योग भोग्य घटयादि। {(राशि × ३०°) + अंश} × ६० = भुक्तांश कलादि। इस सूत्र से योग साधन सुगमता से ज्ञात हो जाता है।

रविचन्द्र गत्यन्तर से भाग देने पर तिथि के घटयादि मान तथा गति योग से भाग देने पर योग के घटयादि मान तथा जिस ग्रह के गति से भाग देंगे, उस ग्रह का नक्षत्रभोग काल आता है। सूर्यचन्द्र का गति योग लगभग ८०० कला होता है, लेकिन स्फुटमान किंचित् अलग आता है।

4.3.2 योग साधन

योग आनयन के लिए सूर्यसिद्धान्त की गणितीय प्रक्रिया निम्नलिखित है –

$$\frac{\text{स्पष्टसूर्य} + \text{स्पष्टचन्द्र}}{८००} = \text{गत योग}$$

८०० – शेष = भोग्य मान

$$\frac{६० \times \text{भोग्यमान}}{\text{गतियोग}} = \text{भोग्य गणितीय योग।}$$

सूर्यगति + चन्द्रगति = गतियोग

मिश्रमान ± भोग्य गणितीय योग

= योगमान

उदाहरणार्थ –

स्पष्टसूर्य = ३/२३/५३/४४

स्पष्ट चन्द्र = ७/७/३५/२२

सूर्य गति = ०/५७/२२

चन्द्र गति = १२/१२/२

मिश्रमान = ४७/१७

सूत्रानुसार = ३/२३/ ५३/४४ (सूर्य)

\+ ७/७/३५/२२ (चन्द्र)

११/१/२९/६

०/५७/२२ (सूर्य गति)

+१२/१२/२ (चन्द्र गति)

१३/९/२४ गतियोग

११ राशि × ३० = ३३० अंश + १ = ३३१ अंश

३३१ × ६० = १९८६० + २९ = १९८८९/ ६

$$\frac{१९८८९}{८००} = २४ \text{ गतयोग (शुक्ल)}$$

८००) १९८८९(२४

१९२००

६८९/६

यहाँ ८०० स्थिरांक है जो योग के स्थिरमध्यम मान १३ अंश २० कला का कलात्मक मान है।

८०० – ६८९/६

= ११० / ५४

६० × ११०/५४

१३/९/२४ गतियोग

= ३९९२४० एक जातीय करने पर

७८९/२४

४७३६४)३९९२४०(८/२५

३७८९१२

२०३२८

× ६०

१२१९६८०

११८४१००

३५५८०

४७/१७ मिश्रमान

+ ८/२५ भोग्य

५५/४२

ब्रह्म योग = ५५/४२

इस प्रकार से सिद्धान्त ग्रन्थ या करण ग्रन्थ या आधुनिक पंचांगों से आनीत स्पष्टसूर्य एवं स्पष्टचन्द्र के माध्यम से योग का आनयन किया जा सकता है।

योग की उपपत्ति –

३६०° की चक्रकला २१६०० होती है। अर्थात् ३६० × ६० = २१६००

योगों की संख्या २७ है। अत: चक्रकला ÷ २७ = ८०० कला।

यही ८०० कला स्थिरांक के रूप में है।

अभ्यास प्रश्न -1

1. अथर्वज्योतिष के अनुसार योग का कितना गुणा फल मिलता है?

   क. 8 ख. 16 ग. 32 घ. 60

2. वसिष्ठ संहिता के अनुसार योगों की संख्या है –
   क. 27 ख. 28 ग. 29 घ. 30
3. पंचांग में योग के कितने प्रकार का उल्लेख मिलता है?
   क. 2 ख. 3 ग. 4 घ.5
4. शोभन नामक योग के स्वामी है –
   क. यम ख. ब्रह्मा ग. अग्नि घ. वृहस्पति
5. भचक्रकला ÷ 27 =?
   क. 500 कला ख. 600 कला ग. 700 कला घ.800 कला

4.4 योग क्षय तथा वृद्धि एवं योग फल

जिस योग में सूर्य का उदय न हो, उस योग को 'क्षय संज्ञक योग' कहते है। नक्षत्र तथा तिथि की तरह योग का आरम्भ सूर्योदय के कुछ समय बाद में हो तथा द्वितीय सूर्योदय से पूर्व यदि योगमान समाप्त हो तो योग क्षयाख्य कहते हैं। योग की वृद्धि भी तिथि तथा नक्षत्र की तरह होता है।
उदाहरण के लिए माना लिया कि आषाढ़ शुक्ल अष्टमी बुधवार को सिद्धि योग का मान ५२ घटी ३१ पल है। इसी दिनांक को सूर्योदय से ३ घटी ८ पल तक शिव योग है। चूँकि शिव योग ३ घटी ८पल पर समाप्त होकर सिद्धियोग प्रारम्भ हुआ। इसका मान ५२ घटी ३१ पल है। चूँकि ३ घटी ८ पल + ५२ घटी ३१ पल = ५५ घटी ३९ पल तक सिद्ध योग का घटयात्मक समय ज्ञात होता है। तत्पश्चात् साध्य योग का आरम्भ भी होता है।

योग फल –

विष्कम्भे जितशत्रुरर्थपशुमान् प्रीतौ परस्त्रीवश
श्चायुष्मत्प्रभवश्चिरायुरगदः सौभाग्यजातः सुखी।
भोगी शोभनश्योगजो वधरूचिर्जातोऽतिगण्डे धनी
धर्माचाररतः सुकर्मजनितो धृत्यां परस्त्रीधनः।।

यदि व्यक्ति का जन्म विष्कम्भ योग में हो तो वह शत्रुञ्जयी, धन और पशुधन सम्पन्न होता है, प्रीती योग में जन्म हो तो पराई स्त्री के वशीभूत, आयुष्मान योग में जन्म हो तो नैरूज्यता और दीर्घायु प्राप्त, सौभाग्य योग में जन्म हो तो सुखी, शोभन योग में जन्म हो तो हत्या की प्रवृत्ति से युक्त , भोगी, अतिगण्ड योग में जन्म हो तो धनवान, सुकर्मा योग में जन्म हो तो धर्माचारी, धृति योग में जन्म हो तो परस्त्री से धन प्राप्त करने वाला होता है।

शूले कोपवशानुग: कलहकृद्गण्डे दुराचारवान्।
वृद्धौ पण्डितवाग् ध्रुवेऽतिधनवान् व्याघातजो घातक:।।
ज्ञानी हर्षणयोगज: पृथुयशा वज्रे धनी कामुक:।
सिद्धौ सर्वजनाश्रित: प्रभुसमो मायी व्यतीपातज:।।

शूल योग में जन्म हो तो जातक क्रोधी, कलही, गण्ड योग में जन्म हो तो दुराचारी, वृद्धियोग में जन्म हो तो विद्वान वक्ता, ध्रुव योग में जन्म हो तो अतिधनी, व्याघात योग में जन्म हो तो घातक , हर्षण योग में जन्म हो तो यशस्वी और ज्ञानसम्पन्न, वज्र योग में जन्म हो तो धनिक और कामासक्त, सिद्धि योग में जन्म हो तो बहुजनों का आश्रयदाता, राजा के सदृश, व्यतीपात योग में जन्म हो तो जातक मायावी होता है।

दुष्कामी च वरीयजस्तु परिघे विद्वेषको वित्तवान्
शास्त्रज्ञ: शिवयोगजनश्च धनवान् शान्तोऽवनीशप्रिय:।
सिद्धे धर्मपरायण: क्रतुपर: साध्ये शुभाचारवान्
चार्वङ्ग: शुभयोगजश्च धनवान् कामातुर: श्लेष्मक:।।

वरीयान योगोत्पन्न जातक अतिकामासक्त होता है, परिघ योग में जन्म हो तो जातक विद्वेषक किन्तु विद्वान होता है, शिव योग में शास्त्रज्ञ, शान्तचित्त और राजा का प्रियपात्र होता है, सिद्ध योगोत्पन्न जातक धार्मिक और यज्ञकर्ता होता है, साध्य योग में जनम लेने वाला आचारवान, शुभ योग में उत्पन्न जातक सुन्दर देहयष्टि, धनसम्पन्न, कामातुर और कफ प्रधान प्रकृति का होता है।

शुक्ले धर्मरत: पटुत्ववचन: कोपी चल: पण्डितो
मानी ब्रह्मभवोऽतिगुप्तधनिकस्त्यागी विवेकप्रभु:।
ऐन्द्रे सर्वजनोपकारचरित: सर्वज्ञधीतिर्वत्तवान्
मायावी परदूषकश्च बलवान् त्यागी धनी वैधृतौ।।

शुक्ल योगोत्पन्न जातक धर्माचारी, वाक्पटु, क्रोधी, चंचल और विद्वान होता है, ब्रह्म योग में जन्मा व्यक्ति मानी, गुप्तधन का स्वामी, त्यागी और विवेकी होता है, ऐन्द्र योग में जन्म लेने वाला जातक परोपकारी, सर्वज्ञ, बुद्धि और धन से सम्पन्न होता है, वैधृति योग में जन्म हो तो जातक मायावी, परनिन्दक, बलशाली , त्यागी और धनवान् होता है।

अभ्यास प्रश्न – 2

बहुवैकल्पिक प्रश्न –

1. जिस योग में सूर्य का उदय न हो, उस योग को क्या कहते है।

क. वृद्धिसंज्ञक योग ख. क्षयसंज्ञक योग ग. आनन्दादि योग घ. विष्कुम्भादि योग

2. यदि किसी जातक का जन्म सौभाग्य योग में होता है तो वह क्या होता है ?

क. सुखी ख. दु:खी ग. कामी घ. आलसी

3. योगों के क्रम में प्रीति के बाद क्या आता है?

क. आयुष्मान ख. सौभाग्य ग. शोभन घ. अतिगण्ड

4. शुक्ले ..... ?

क. वाक्पटु ख. धर्मप्रिय: ग. दानवीर: घ. सत्यभाषी

5. आनन्दादि योग में कालदण्ड के पश्चात् क्या आता है?

क. धाता ख. आनन्द ग. ध्वांक्ष घ. धूम्र

4.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि ज्योतिषशास्त्र में तिथि, नक्षत्र की अपेक्षा योगों का समावेश कब हुआ यह कहना अत्यन्त जटिलता से पूर्ण विषय है। तिथि और नक्षत्र की उपस्थिति का ज्ञान खगोलीय कारणों से स्पष्ट और गणित साध्य था, पर योगों की परिकल्पना अपेक्षाकृत दुरूह थी। चन्द्र-सूर्य का अन्तरात्मक मान तिथि थी तो वहाँ उसे मूर्तरूप देने के लिए चन्द्रकलायें भी थीं। चन्द्र सूर्य का संयोगात्मक मान एक वर्ष में कितना भगण पैदा कर सकता है और एक वृत्तात्मक परिभ्रमण में उसका कितना प्रतिदिवसीय मान उत्पन्न हो सकता है यह शोध और परिकल्पना का विषय था। यद्यपि आचार्यों के मन में यह विषय गणितीय दृष्टि से शीघ्र ही कौंध गया होगा कि यदि चन्द्र-सूर्य का वियोगात्मक मान तिथि जैसे महत्वपूर्ण तत्व को उत्पन्न कर सकता है तो उन दोनों का संयोगात्मक मान भी अवश्य ही सद्भाव में होगा। फलत: इन्हें 'योग' नाम से ही अभिहित किया गया।

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

योग – पंचांग का एक प्रमुख अंग है – योग। सैद्धान्तिक दृष्टि से सूर्य एवं चन्द्रमा के गति योग 'योग' कहलाता है। योग दो प्रकार के होते हैं –एक स्थिरात्मक और दूसरा चलायमान। विष्कुम्भादि योग

चलायमान हैं, और आनन्दादि योग स्थिर।

आयुष्मान – विष्कुम्भादि सत्ताइस योगों में एक योग का नाम है – आयुष्मान।

कालदण्ड – आनन्दादि योगों में एक योग का नाम है - कालदण्ड। यह स्थिर होता है।

युति – मिलना

गणित – गण्यते संख्यायते तद् गणितम्।

भगण – १२ राशियों का एक भगण होता है।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 की उत्तरमाला

1. ग 2. क 3. क 4. घ 5. घ

अभ्यास प्रश्न -2 की उत्तरमाला

1. ख 2. क 3. क 4. ख 5. घ

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ग्रहलाघवम् - प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय
2. सूर्यसिद्धान्तीय परियोजना – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
3. पंचांग साधन – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
4. ज्योतिष शास्त्र – डॉ0 कामेश्वर उपाध्याय
5. भारतीय ज्योतिष – डॉ0 शंकरबालकृष्ण दीक्षित

4.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. केशवीय जातक पद्धति
2. ज्योतिष सर्वस्व
3. भारतीय कुण्डली विज्ञान
4. भारतीय ज्योतिष
5. ग्रहलाघवम्
6. सूर्यसिद्धान्त

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. योग का विस्तृत वर्णन कीजिये।
2. स्वकल्पित योग साधन कीजिये।
3. योग का उल्लेख करते हुए उनका महत्व निरूपण कीजिये।
4. योग का सैद्धान्तिक विवेचन कीजिये।
5. योग में उत्पन्न जातक का फल लिखिये।

इकाई - 5 करण साधन

इकाई की संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 करण परिचय

5.3.1 करणों में विहित कर्म

5.3.2 भद्रा सम्बन्धित तथ्य

5.4 करण ज्ञापक सूत्र एवं साधन

5.5 सारांश

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.9 सहायक पाठ्यसामग्री

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई MAJY-103 के द्वितीय खण्ड की पाँचवी इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – करण साधन। इससे पूर्व की इकाईयों में आपने योग के बारे में अध्ययन कर लिया है। अब आप पंचांग के और एक रूप '**करण**' के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं।

तिथ्यर्धं करणम्। अर्थात् तिथि का आधा करण होता है। करण दो प्रकार के होते है। एक स्थिर द्वितीय चलायमान। स्थिर करणों की संख्या ४ तथा चलायमान करणों की संख्या ७ है।
आइए इस इकाई में करण का ज्ञान करते हुए उसके गणितीय अवयवों को भी समझने का प्रयास करते हैं।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- जान लेंगे कि करण किसे कहते है।
- को ज्ञात हो जायेगा कि करण का मान कितना होता है।
- करण के गणितीय अवयव को समझ लेंगे।
- अच्छी तरह से करण का साधन कैसे किया जाता है, जान जायेंगे।

5.3 करण परिचय

भारतवर्ष में पंचांगों का प्रयोग भविष्यज्ञान तथा धर्मशास्त्र विषयक ज्ञान के लिए होता चला आ रहा है। पंचांग में पाँच अंग होते हैं, अथवा यह कहना समुचित होगा कि पाँच अंगों के कारण पंचांग नाम पड़ा। ये पाँच अंग हैं - तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण।

तिथ्यर्धं करणं प्रोक्तम् सूत्र के अनुसार एक तिथि का आधा भाग एक करण होता है। इस प्रकार से एक तिथि में दो करण होते हैं। लुप्ततिथि में श्राद्ध का निर्णय करने में करण नियामक होता है। अत: करण का धार्मिक तथा अदृश्य महत्व है। श्राद्ध, होलिका दाह, यात्रा और अन्यान्य शुभकर्मों एवं संस्कारों में करण नियन्त्रण ही शुभत्व को स्थिर करता है। तिथि चौबीस घण्टे की स्थिति बतलाती है, नक्षत्र, योग और वार भी चौबीस घण्टे को प्रभावित करते हैं, पर करण बारह घण्टे में ही अपनी स्थिति से काल को प्रभावित कर डालता है। विष्टि करण ही लोक में 'भद्रा' के नाम से विख्यात है। प्रायश: सम्पूर्ण भारतवर्ष में ज्योतिष शास्त्र को मानने एवं जानने वाले लोग भद्रा में कोई भी शुभ कार्य नहीं करते। विष्टिकरण का अदृश्य दुष्प्रभाव जीवन में प्रत्यक्ष देखा गया है।

एक चान्द्र मास में कुल ३० तिथियाँ होती हैं। इन्हीं तिथियों में करण का निवास एवं अनुवर्तन होता रहता है। ये करण कुल ११ हैं। ४ स्थिर करण तथा ७ चल करण। ७ चल करणों में वव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, विष्टि ख्यात हैं। इनकी संख्या तथा क्रम नियत है। चार स्थिर करणों में शकुनि, चतुष्पद, नाग और किंस्तुघ्न हैं। ७ करणों का एक पक्ष में ४ बार अनुवर्तन होता है – ७ × ४ = २८ या तिथियाँ। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि के द्वितीय अर्ध भाग में शकुनि, अमावस्या के प्रथमार्ध भाग में चतुष्पद करण तथा अमावस्या के द्वितीयार्ध भाग में नाग करण होता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि के प्रथमार्ध भाग में किंस्तुघ्न करण होता है। ये स्थिर करण चल करणों के ८ अनुवर्तन को संतुलित करते हैं। ७ × ८ = ५६ करण अर्थात् २८ तिथियाँ हुई, क्योंकि एक तिथि में दो करण होते हैं। शेष दो तिथियों में चार स्थिर करण होते हैं। यही क्रम सूर्यसिद्धान्त में दिया गया है।

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध भाग में शकुनि तथा अमावस्या के प्रथमार्ध भाग में चतुष्पद, द्वितीयार्ध में नाग एवं शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के प्रथमार्ध में किंस्तुघ्न ये नियामक करण हैं। इनका स्थान निर्धारित है और ये चान्द्रमास में एक ही बार आते हैं। चर या चल करण के रूप में सात करणों के सन्दर्भ में तथा चार ध्रुव (स्थिर) करणों के सन्दर्भ में सूर्यसिद्धान्त में इस प्रकार से उल्लेख प्राप्त होता है –

ध्रुवाणि शकुनिर्नागः तृतीयं तु चतुष्पदम्।
किंस्तुघ्नं च चतुर्दश्याः कृष्णाया अपरार्धतः।।
ववादीनि तथा सप्त चराख्यकरणानि तु।
मासेऽष्टकृत्व एकैकं करणं परिवर्तते।
तिथ्यर्धभोगं सर्वेषां करणानां प्रचक्षते।।

सूर्यसिद्धान्त में जिन चार स्थिर करणों का नाम है वही नाम अन्यत्र भी प्राप्त है, परन्तु इस समय व्यवहार में क्रम बदला हुआ है। अन्य ग्रन्थों में शकुनि, चतुष्पद, नाग तथा किंस्तुघ्न का क्रम पठित है और आज यही व्यवहार में भी है। इन चारों करणों में चन्द्रबल क्षीण रहता है, क्योंकि कृष्णपक्ष की चतुर्दशी से लेकर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तक चन्द्र दर्शन नहीं होता। फलतः इनमें कोई भी शुभकार्य नहीं किया जाता है।

नीचे यहाँ करण को समझने के लिए तालिका दी जा रही है –

	शुक्ल पक्ष		कृष्ण पक्ष	
क्रम	**प्रथमार्ध**	**उत्तरार्ध**	**प्रथमार्ध**	**उत्तरार्ध**
१	किंस्तुघ्न	वव	बालव	कौलव
२	बालव	कौलव	तैतिल	गर
३	तैतिल	गर	वणिज	विष्टि
४	वणिज	विष्टि	वव	वालव
५	वव	वालव	कौलव	तैतिल
६	कौलव	तैतिल	गर	वणिज
७	गर	वणिज	विष्टि	वव
८	विष्टि	वव	वालव	कौलव
९	वालव	कौलव	तैतिल	गर
१०	तैतिल	गर	वणिज	विष्टि
११	वणिज	विष्टि	वव	वालव
१२	वव	वालव	कौलव	तैतिल
१३	कौलव	तैतिल	गर	वणिज
१४	गर	वणिज	विष्टि	शकुनि
१५	विष्टि	वव	चतुष्पद	नाग

इस तालिका में स्पष्ट है कि शुक्ल पक्ष की चतुर्थी के उत्तरार्ध में, अष्टमी के पूर्वार्ध में, एकादशी के उत्तरार्ध में तथा पूर्णिमा के पूर्वार्धभाग में विष्टि भ्रदा रहती है। ठीक इसी तरह कृष्णपक्ष की तृतीया के उत्तरार्ध भाग में सप्तमी के पूर्वार्द्ध भाग में, दशमी के उत्तरार्ध भाग में तथा चतुर्दशी के पूर्वार्द्ध भाग में विष्टि भ्रदा नियत है। इसी स्थिति को सुस्थिर करके श्लोक निर्मित किया गया है –

शुक्ले पूर्वार्द्धेऽष्टमीपंचदश्यो
र्भद्रैकादश्यां चतुर्थ्यां परार्द्धे।
कृष्णेऽन्त्यार्धे स्यात्तृतीयादशम्यो:।
पूर्वे भागे सप्तमीशम्भुतिथ्यो:।।

अथर्वज्योतिष में न केवल विष्टि भ्रदा करण की स्थिर आवृत्ति का प्रतिपादनप है, बल्कि वहाँ वव आदि करणों की आवृत्ति का भी उल्लेख है –

शुक्लप्रतिपदि रात्रौ दिवि पंचम्यां तथाष्टम्यां रात्रौ।
द्वादश्यामपि दिवा प्रथमं प्रतिपद्यते करणम्।।

पौर्णमास्यां ववं रात्रौ तच्चतुर्थ्यां पुनर्दिवा।
तद्धि तत्सप्तम्यां रात्रौ तच्चैवैकादश्यां दिवा।।

अथर्वज्योतिष में न केवल विष्टि भ्रदा करण की स्थिर आवृत्ति का प्रतिपादन है, बल्कि वहाँ वव आदि करणों की आवृत्ति का भी उल्लेख है –

शुक्लप्रतिपदि रात्रौ दिवि पंचम्यां तथाष्टम्यां रात्रौ।
द्वादश्यामपि दिवा प्रथमं प्रतिपद्यते करणम्।।
पौर्णमास्यां ववं रात्रौ तच्चतुर्थ्यां पुनर्दिवा।
तद्धि तत्सप्तम्यां रात्रौ तच्चैवैकादश्यां दिवा।।

वव करण शुक्लपक्ष प्रतिपदा एवं अष्टमी की रात्रि में आता है। पंचमी और द्वादशी के दिन में वव करण आता है। इसी तरह पूर्णिमा और सप्तमी और की रात्रि में तथा चतुर्थी और एकादशी के दिन में वव का आगमन होता रहता है। इसमें पूर्णिमा के बाद कृष्णपक्ष की तिथियाँ ली गई हैं। अथर्वज्योतिष में 'कौस्तुभ' करण कहा गया है जिसे बाद के ग्रन्थों में किंस्तुघ्न नाम से कहा गया है। 'गराजि' करण बाद में केवल 'गर' नाम से पुकारा जाने लगा। कौस्तुभ यानी हीरकमणि, किंस्तुघ्न अर्थात् ध्वंसक, गराजि: अर्थात् विषघ्न केवल गर अर्थात् विष। इन दोनों करणों का अर्थ दुष्ट हो गया बाद के ग्रन्थों में।

करणों का प्रयोजन –

प्रश्नशास्त्र, केरल, यात्रा तथा शुभाशुभ कार्य में शुभाशुभ समय निर्धारण तथा सूक्ष्म गणना में इसका प्रयोजन है। कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अनुष्ठान भी इससे सम्बद्ध हैं।

करण स्वामी –

वव के स्वामी इन्द्र, बालव के ब्रह्मा, कौलव के मित्र (सूर्य), तैतिल के अर्यमा, गर की अधिपति पृथ्वी, वणिज की अधिपति लक्ष्मी तथा विष्टि के स्वामी यम हैं। शकुनि के कलि, चतुष्पद के सांड (वृषभ), नाग के सर्प तथा किंस्तुघ्न के स्वामी वायु हैं।

अथर्वज्योतिष में करणों के देवता वैदिक युग से प्रभावित हैं। बाद के देवता मानव ज्योतिष द्वारा निर्धारित हैं। अथर्वज्योतिष में करण स्वामी इस प्रकार हैं –

ववस्य देवता विष्णुर्वालवस्य प्रजापति:।
कौलवस्य भवेत् सोमस्तैतिलस्य शतक्रतु:।।
गराजिर्वसुदेवत्यो मणिभ्रदोऽथ वाणिजे।
विष्टेस्तु दैवतं मृत्युर्देवता परिकीर्तिता:।।

शकुनस्य गरूत्मान्वै वृषभो वै चतुष्पदे।
नागस्य देवता नागा: कौस्तुभस्य धनाधिप:।।

5.3.1 करणों में विहित कर्म –

वव - इसमें शुभकर्म, पशुकर्म, धान्यकर्म, स्थिर कर्म, पुष्टिकर्म, धातु सम्बन्धी कर्म करना चाहिए। प्रस्थान, प्रवेश कर्म शुभ होता है।

बालव – इसमें धार्मिक कार्य, मांगलिक कार्य, उत्सव कार्य, वास्तुकर्म, राज्याभिषेक तथा संग्रामकार्य करना चाहिए। यज्ञ, उपनयन, विवाह शुभ होता है।

कौलव – इसमें हाथी, अश्व, ऊँट का संग्रह, हथियार, उद्यान, वृक्षारोपण कर्म करना चाहिए। वालव में प्रतिपादित कर्म भी कौलव में करना चाहिए।

तैतिल – इसमें सौभाग्यवर्धक कर्म, वेदाध्ययन, संधि विग्रहकर्म, यात्रा, क्रय-विक्रय, तडाग-वापी-कूप खनन कर्म करना चाहिए। राजसेवकों के लिए शुभ है।

गर – इसमें कृषि कर्म, बीजवपन, गृहनिर्माण कर्म करना चाहिए।

वणिज – इसमें स्थिरकार्य, व्यवसाय सम्बन्धी कर्म, योग-संयोग सम्बन्धी कर्म करना चाहिए। विक्रेता रिध्यते तत्र क्रेता तत्र न रिध्यते।

विष्टि – इस विष्टि (भ्रदा) में शुभ कर्म न करके अशुभ कर्म करना चाहिए, जैसे – वध, बन्धन, घात, षट्कर्म, विषकर्म आदि।

शकुनि – इसमें औषधि कर्म, पुष्टि कर्म, मूलकर्म एवं मंत्रकर्म करना चाहिए।

चतुष्पद – इसमें गोक्रय-विक्रय, पितृकर्म तथा राज्यकर्म करना चाहिए।

नाग – इसमें स्थिरकर्म, कठिनकर्म, हरण एवं अवरोध सम्बन्धी कर्म करना चाहिए।

किंस्तुघ्न – इसमें शुभकर्म, वृद्धिकर्म, पुष्टिकर्म, मांगलिकर्म तथा सिद्धि कर्म करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न -1

1. एक करण होता है?
   क. तिथि का आधा भाग ख. नक्षत्र का आधा भाग ग. योगार्ध घ. वारार्ध
2. एक चान्द्रमास में कुल कितनी तिथियाँ होती हैं?
   क. २० ख.३० ग.४० घ. ५०
3. चल करणों की संख्या है?
   क. ५ ख.६ ग.७ घ.४

4. स्थिर करणों की संख्या है?

   क. ५ ख.४ ग.७ घ. ८

5. ७ करणों का एक पक्ष में कितने बार अनुवर्तन होता है?

   क. चार बार ख.पाँच बार ग. छ: बार घ. सात बार

5.3.2 भद्रा सम्बन्धी तथ्य –

भ्रदा की उत्पत्ति महाकाल के वक्ष से हुयी है। इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण काल मान में कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो भयावह एवं सर्वनाशक होते हैं। इन्हीं क्षणों को गणकों ने पहचानकर भद्रा की संज्ञा दी। देवासुर संग्राम के समय देवगणों की हार को देखकर क्रुद्ध भगवान् शंकर ने अपने ही हृदय को देखा तो उससे एक शक्ति की उत्पत्ति हुई। यही शक्ति विष्टि या भ्रदा कही गयी। इसकी मुख-आकृति गदहे के मुख की तरह थी, भुजाओं की संख्या सात, सिंह की तरह गर्दन वाली, पतले पेट वाली तथा प्रेतवाहना थी। गदहे की तरह पूँछ भी इसे थी। इसने राक्षसों का विनाश करना शुरू किया। प्रसन्न होकर सभी देवगणों ने इसे अपने कान के पास धारण किया। इससे सिद्ध होता है कि विष्टि काल पुरूष के हृदय से निकली है और ब्रह्माण्ड में स्थिर देवगणों के दोनों कानों के पास स्थित है। अत: करण देवभाग में कान के समीप स्थित है अथवा देवताओं के करणांग में निवास करने के कारण ये करण कहलाये। वसिष्ठ ऋषि ने कहा है –यह विष्टि रूद्र के तृतीय नेत्र से उत्पन्न हुई है। इसीलिए सब कुछ जला डालने की क्षमता है इसमें। फलत: विष्टि में किया हुआ शुभ कार्य भस्म हो जाता है। इसके दाँत भयानक हैं। स्वयं भी काले बादलों की तरह देखने में भयानक है। यह लम्बी नाक वाली तथा मोटी पिंडली व जांघों वाली है। इससे अग्नि की लपटें निकलती है। इसके शरीर के किसी भाग में पड़ने पर शुभत्व नाश होता है। मात्र पूँछ में किया हुआ कार्य शुभ होता है। इसीलिए पूर्णिमा में होलिका दाह के समय यदि भ्रदा हो तो पूँछ काल उपस्थित होने पर ही होली जलायी जाती है।

दिशा प्रहर ज्ञान –

भद्रा का मुख किस दिशा में और किस प्रहर में होता है। इसका ज्ञान करने के बाद ही अत्यावश्यक यात्रायें या अन्य शुभ कर्म करना चाहिए। कुल आठ प्रहर की दिनरात्रि होती है। अर्थात् एक प्रहर तीन घंटे के तुल्य होता है। चतुर्दशी तिथि में भद्रा पूर्व दिशा में प्रारम्भ में एक प्रहर रहती है। अष्टमी में अग्निकोण में द्वितीय प्रहर में रहती है। सप्तमी तिथि में दक्षिण में तृतीय प्रहर में तथा पूर्णिमा में नैर्ऋत्य कोण में चतुर्थ प्रहर में रहती है। चतुर्थी तिथि में पंचम प्रहर में पश्चिम में, दशमी

तिथि में सातवें प्रहर में तथा तृतीया तिथि में ईशान कोण में आठवें प्रहर में रहती है।

यहाँ ध्येय है कि कोई भी करण तिथ्यर्ध से ज्यादा नहीं होता और एक तिथि स्थूलत: चौबीस घण्टे की होती है।

इस प्रकार से १२ घंटे से ज्यादा भ्रदा नहीं रहती। वैसी स्थिति में आठवें प्रहर का अर्थ भद्रा के अन्तिम प्रहर में अर्थात् अंतिम तीन घण्टे में तृतीया तिथि में ईशान कोण में भद्रा रहेगी।
राशियों के आधार पर भी भ्रदा का ज्ञान होता है, जैसे मेष, मकर, वृष एवं कर्क राशि में भ्रदा स्वर्ग में रहती है, कन्या तुला, मकर तथा धनु राशि में पाताल लोक में रहती है। कुम्भ, मीन, वृश्चिक तथा सिंह राशि में भद्रा मृत्युलोक (पृथ्वी) में रहती है। इस प्रकार भ्रदा सतत तीनों लोकों (स्वर्ग, पाताल, मर्त्य) में विचरण करती रहती है। मर्त्यलोक की भद्रा विनाशक मानी गयी है।

यद्यपि भ्रदा के निवास का स्थान, दिशा, प्रहर, काल, घटी आदि का विचार विस्तृत रूप से हुआ है, परन्तु लोक में व्यवहार पक्ष में इसे कोई स्वीकार नहीं करता। भ्रदा का नाम सुनते ही लोग प्रायश: शुभ कर्म स्थगित कर देते हैं। फिर भी विकल्प की विधियों को जानते रहने से अत्यावश्यक होने पर समाधान निकाल लिया जाता है।

भद्रा के नाम –

कुल ग्यारह करणों में भद्रा या विष्टि एक करण है, पर इस एक करण के अकेले आठ नाम आचार्यों ने कहे हैं, जैसे – कराली, नन्दिनी, रौद्री, सुमुखी, दुर्मुखी, त्रिशिरा, वैष्णवी तथा हंसी। इन आठ प्रकार की भद्राओं को भी मुख्यरूप से दो वर्ग में रखा गया है। प्रथम वर्ग को सर्पिणी कहा गया तथा द्वितीय वर्ग को वृश्चिकी। सर्पिणी भ्रदा का मुख महा अशुभ माना गया है और वृश्चिकी भद्रा का पुच्छ भाग खतरनाक होता है।

नारद ऋषि के अनुसार भद्रा की पूँछ में तीन घटी ही आती है, अर्थात् सम्पूर्ण भद्राकाल में मात्र ७२ मिनट का समय काम चलाऊ या आवश्यक शुभकर्म करने लायक होता है। नारद ऋषि के मत को मान्यता प्राप्त है।

धर्मसिन्धु में भद्रा का जो विचार आया है उसी के अनुसार होलिका दाह के समय भद्रा रहने पर परिहार किया जाता है। यह मत सम्पूर्ण देश में मान्य है। उदाहरण के लिए जिस तिथि में वणिज करण का मान २/८ घटी पल हो और विष्टि करण का मान ३४/१९ हो तो भद्रा का सम्पूर्ण मान ३२/११ घटी पल होगा। इसका चतुर्थांश निकालने पर ८ घटी २ पल ४५ विपल होगा। यही भ्रदा की पूँछ होती है और चतुर्थपाद के आरम्भ की पाँच घटी मुख कहलाती है। फलत: ८/२/५४ को तीन से गुणा करने पर २४ घटी ८ पल और १५ विपल होगा। इसमें तीन घटी घटाने से २१ घटी ८ पल १५

विपल से लेकर २४ घटी ८पल १५ विपल तक पूँछ होगी। इसी में होलिका दाह या अन्य आवश्यक कर्म किया जा सकता है। अत: धर्मसिन्धु के अनुसार भ्रदा पूँछ = भद्रा सम्पूर्ण मान – एकपाद चतुर्थांश – ३ घटी।

भ्रदा की विफलता –

पूर्वार्द्ध में लगनेवाली भद्रा यदि उत्तरार्द्ध में लगे तो उसका दुष्प्रभाव निष्फल हो जाता है। ऐसा मत वृहस्पति का है। इस मत का समर्थन ब्रह्मयामल ग्रन्थ, पीयूषधाराटीका, ब्रह्मसिद्धान्तादि ग्रन्थों ने भी किया है। वृहस्पति का मत इस प्रकार से है –

विष्टिस्तु सर्वथा त्याज्या क्रमेणैवागता तु या।
अक्रमेणागता भद्रा सर्वकार्येषु शोभना।।

गणक कालिदास ने कहा है कि महामृत्युंजय मन्त्र जप या शिव जी के जप में, मीन तथा मेष राशि के चन्द्रमा के समय पूजन करने में, कालरात्रि या शिवा रात्रि में हवन करने में भ्रदा अशुभ फल नहीं देती है –

स्यादभ्रदाय भद्रा न शम्भोर्जये
मीनराशौ न योगस्तथाप्यर्चने।
होमकाले शिवायास्तमी: तद्भवः।
साधने सर्वकाले न मेषऽनयो:।।

भद्रावास –

यदि चन्द्रमा कर्क, सिंह कुम्भ तथा मीन राशि में हो, तो भद्रा का वास पृथ्वी पर मानते हैं। मेष, वृष, मिथुन तथा कर्क में राशियों में हो तो स्वर्ग में तथा कन्या, तुला, धनु तथा मकर में हो तो पाताल में भद्रा का वास होता है। स्वस्थान स्थिति के अनुसार अपना प्रभाव दिखाता है। स्वर्गस्थ भद्रा में अन्तरिक्षजन्य कार्य तथा भूमि के उपर का कार्य भूपृष्ठस्थ भद्रा में भूसंयुक्त कार्य तथा पातालस्थ भ्रदा में भू खनन, गृहारम्भ, बीजवपन प्रभृति कार्य त्याज्य है। इसका विशेष विचार मुहूर्त्त ग्रन्थ गम्य तथ्य है। कृष्णपक्ष प्रतिपदा के पूर्वार्ध में बालव करण है। बालव करण का प्रारम्भ ५३ घटी २५ पल पर पूर्णिमान्त के बाद होना तथा कृष्ण प्रतिपदा पूर्वार्धान्त २३ घटी ४ पल ३० विपल पर होना उपर्युक्त गणित से पंचांग प्रमाण सिद्ध है। प्रतिपदा तिथ्यन्त ५२ घटी २५ पल पर कौलक करणान्त सिद्ध है। पंचांग में औदायिक करण लिखा जाता है। द्वितीय करण तिथ्यन्त प्रमाण से संकेतित है।

5.4 करण ज्ञापक सूत्र एवं साधन

चन्द्रभोगांश – सूर्यभोगांश = गतकरण + शेष / ६/६° - शेष = भोग्य।

६°

शेष × ६० घटी = भुक्तघटयादि एवं = शेष × ६० घटी = भोग्य घटयादि।

चन्द्ररविगत्यन्तर कला चन्दगति-रविगति

करणों का आरम्भ तथा समाप्ति काल -

माना कि आषाढ़ कृष्ण पक्ष प्रतिपदा मंगलवार को ५२ घटी २५ पल

द्वितीया तिथि बुधवार को ५२ घटी ११ पल

तृतीया तिथि गुरुवार को ५३ घटी १७ पल

इस प्रकार पंचांग प्रमाण के करण का प्रारम्भ तथा अन्त जानना है।

एतदर्थ सूत्र –

६० – पूर्व तिथिभोग + वर्तमान तिथिभोग = पूर्णतिथिभोग।

प्रथम पूर्णतिथ्यन्त + पूर्णतिथिभोगार्धं = प्रथम करणान्त।

प्रथम करणान्त + तिथि उत्तरार्ध = द्वितीय करणान्त।

पक्षारम्भ से गणना करने पर सभी करण घटयात्मक प्रमाण से आते हैं। तिथि को घण्टात्मक बनाकर ६० घटी के बदले २४ घण्टा प्रमाण से उपर्युक्त सूत्रानुरोधेन से, प्रयोग करने पर घण्टा मिनट प्रमाण से सभी करणों का प्रारम्भ तथा अन्त सुगमता से जान सकते हैं।

सूत्र के प्रयोग से प्राप्त पक्ष-

६० घटी – ५३ घटी ५२ ज्येष्ठ पूर्णिमा = ६ घटी ८ पल गतदिवसीय पूर्णिमा की समाप्ति के पश्चात् प्रतिपदा का भोग। ६ घटी ८ पल + ५२ घटी २५ पल = ५८ घटी ३३ पल। प्रतिपदा का पूर्ण भोग। तिथ्यर्धं करण ५८ घटी ३३ पल ५८ घटी ३३ पल = २९ घटी ८१. ५पल तक प्रथमकरणान्त

२

करण फल -

बवकरणभव: स्याद्बालकृत्य: प्रतापी

विनयचरितवेषो बालवे राजपूज्य: ।

गजतुरगसमेत: कौलवे चारूकर्मा

मृदुपटुवचनः स्यात्तैतिले पुण्यशीलः ।।

बव करण में उत्पन्न व्यक्ति बालकके समान आचरण करने वाला प्रतापी होता है। बालव करण में उत्पन्न जातक विनयी किन्तु राजपूज्य होता है, कौलव करण में जन्म हो तो जातक हाथी – घोड़े से युक्त, सत्कार्यकर्ता होता है, तैतिल करण में जन्म हो तो जातक मृदु वाक्पटु और पुण्यात्मा होता है।

गरजकरणजातो वीतशत्रुः प्रतापी
वणिजि निपुणवक्ता जारकान्ताविलोलः।
निखिलजनविरोधी पापकर्माऽपवादी
परिजनपरिपूज्यो विष्टिजातः स्वतन्त्रः ।।

गर करण में उत्पन्न जातक शत्रुहीन, प्रतापी होता है, वणिज करण में उत्पन्न व्यक्ति कुशल वक्ता, वेश्यागामी होता है, विष्टि करण में उत्पन्न व्यक्ति जनविरोधी, पापात्मा, अपवादी और स्वजन एवं परिजनों द्वारा पूजित होता है।

शकुनि योग में उत्पन्न व्यक्ति काल को जानने वाला, चिरसुखी, किन्तु दूसरों के विपत्ति का कारण होता है। चतुष्पद करण में उत्पन्न जातक सर्वज्ञ, सुन्दर बुद्धिवाला, यश और धन से सम्पन्न होता है। नाग करण में जन्म लेने वाला व्यक्ति तेजस्वी, अतिधनसम्पन्न, बलशाली और वाचाल होता है। किंस्तुघ्न करणोत्पन्न जातक दूसरों का कार्य करने वाला,चपल, बुद्धिमान और हास्यप्रिय होता है।

अभ्यास प्रश्न – 2

बहुवैकल्पिक प्रश्न –

1. भद्रा की उत्पत्ति कहाँ से हुई है?
   क. देवता से ख. समुद्र से ग. महाकाल के वक्ष से घ. विष्णु के नाभि से
2. तिथ्यर्धं किं भवति ?
   क. नक्षत्र ख. वार ग. करण घ. तिथि
3. एक अहोरात्र में कुल कितने प्रहर होते हैं?
   क. ५ ख. ६ ग. ७ घ. ८
4. यदि चन्द्रमा का वास कर्क राशि पर हो तो भद्रा का निवास कहाँ होता है?
   क.पृथ्वी ख. स्वर्ग ग. पाताल घ. अग्निकोण
5. करणों के क्रम में कौलव के पश्चात् क्या आता है?

क. गर ख. तैतिल ग. वणिज घ. विष्टि

5.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि तिथ्यर्धं करणं प्रोक्तम् सूत्र के अनुसार एक तिथि का आधा भाग एक करण होता है। इस प्रकार से एक तिथि में दो करण होते हैं। लुप्ततिथि में श्राद्ध का निर्णय करने में करण नियामक होता है। अत: करण का धार्मिक तथा अदृश्य महत्व है। श्राद्ध, होलिका दाह, यात्रा और अन्यान्य शुभकर्मों एवं संस्कारों में करण नियन्त्रण ही शुभत्व को स्थिर करता है। तिथि चौबीस घण्टे की स्थिति बतलाती है, नक्षत्र, योग और वार भी चौबीस घण्टे को प्रभावित करते हैं, पर करण बारह घण्टे में ही अपनी स्थिति से काल को प्रभावित कर डालता है। विष्टि करण ही लोक में 'भद्रा' के नाम से विख्यात है। प्रायश: सम्पूर्ण भारतवर्ष में ज्योतिष शास्त्र को मानने एवं जानने वाले लोग भद्रा में कोई भी शुभ कार्य नहीं करते। विष्टिकरण का अदृश्य दुष्प्रभाव जीवन में प्रत्यक्ष देखा गया है। एक चान्द्र मास में कुल ३० तिथियाँ होती हैं। इन्हीं तिथियों में करण का निवास एवं अनुवर्तन होता रहता है। ये करण कुल ११ हैं। ४ स्थिर करण तथा ७ चल करण। ७ चल करणों में वव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, विष्टि ख्यात हैं। इनकी संख्या तथा क्रम नियत है। चार स्थिर करणों में शकुनि, चतुष्पद, नाग और किंस्तुघ्न हैं। ७ करणों का एक पक्ष में ४ बार अनुवर्तन होता है – ७ × ४ = २८ या तिथियाँ। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि के द्वितीय अर्ध भाग में शकुनि, अमावस्या के प्रथमार्ध भाग में चतुष्पद करण तथा अमावस्या के द्वितीयार्ध भाग में नाग करण होता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि के प्रथमार्ध भाग में किंस्तुघ्न करण होता है। ये स्थिर करण चल करणों के ८ अनुवर्तन को संतुलित करते हैं। ७ × ८ = ५६ करण अर्थात् २८ तिथियाँ हुई, क्योंकि एक तिथि में दो करण होते हैं। शेष दो तिथियों में चार स्थिर करण होते हैं। यही क्रम सूर्यसिद्धान्त में दिया गया है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध भाग में शकुनि तथा अमावस्या के प्रथमार्ध भाग में चतुष्पद, द्वितीयार्ध में नाग एवं शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के प्रथमार्ध में किंस्तुघ्न ये नियामक करण हैं। इनका स्थान निर्धारित है और ये चान्द्रमास में एक ही बार आते हैं

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

करण – तिथि के आधे भाग को करण कहते हैं।

भद्रा – विष्टि नाम के करण को 'भद्रा' कहते हैं। इसकी उत्पत्ति महाकाल के 'वक्ष' से हुई है।

चल करण – बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज एवं विष्टि को चल करण कहते हैं।

स्थिर करण – इनकी संख्या 4 है। शकुनि, नाग, चतुष्पद एवं किंस्तुघ्न नामक करण को स्थिर करण के रूप में जानते हैं।

शुक्लपक्ष- जिस पक्ष में चन्द्रमा की कला दृष्ट हो, उसे शुक्लपक्ष कहते हैं।

कृष्णपक्ष – जिस पक्ष में चन्द्रमा की कला दृष्ट न हो, उसे कृष्णपक्ष कहते हैं।

पूर्णिमा – शुक्लपक्ष की पन्द्रहवीं तिथि को पूर्णिमा कहते हैं।

5.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न -1 की उत्तरमाला

1. क 2. ख 3. ग 4. ख 5. क

अभ्यास प्रश्न -2 की उत्तरमाला

1. ग 2. ग 3. घ 4. क 5. ख

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ग्रहलाघवम् - प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय
2. तैतरीय ब्राह्मण
3. पंचांग साधन – प्रोफेसर सच्चिदानन्द मिश्र
4. ज्योतिष शास्त्र – डॉ0 कामेश्वर उपाध्याय
5. भारतीय ज्योतिष – डॉ0 शंकरबालकृष्ण दीक्षित

5.9 सहायक पाठ्यसामग्री

1. केशवीय जातक पद्धति
2. ज्योतिष सर्वस्व
3. भारतीय कुण्डली विज्ञान
4. भारतीय ज्योतिष
5. ग्रहलाघवम्
6. सूर्यसिद्धान्त

5.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. करण किसे कहते है। विस्तृत वर्णन कीजिये।
2. करण का सैद्धान्तिक विवेचन कीजिये।

3. करण कितने प्रकार के होते है। समझाते हुए लिखिये।

4. भद्रा किसे कहते है? स्पष्ट रूप से लिखिये।

5. करण का पंचांग में उपयोगिता पर प्रकाश डालें।